ROYAL ARTS—

YANTRAS & CITRAS

D N SHUKLA

समराङ्गण सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय

राज-निवेश

एवं

राजसी कलायें

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
एम० ए० पी-एच० डी०, डी० लिट०
साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, काव्य-तीर्थ, शिल्प-कला-प्राकल्प
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

प्रथम भाग

अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

समर्पण

महाकवि कालिदास, बाण-भट्ट तथा श्रीहर्ष की स्मृति में

लक्षण एवं लक्ष्य दोनों का जब तक एक समन्वयात्मक प्रतिबिम्बन न प्राप्त हो तो शास्त्रीय सिद्धान्तों (लक्षणों) का क्या मूल्यांकन? अतएव जहाँ अभी तक भारतीय स्थापत्य (विशेषकर चित्र-कला) पर केवल पुरातत्वीय विवेचन हो सका, वहाँ साहित्य-निबन्धनीय इस विवेचन (दे० पृ० ११२-१२४) ने तो चित्र-कला को कितना भारतीय जीवन का अभिन्न अंग सिद्ध कर दिया है—यह सब इन तीन प्रमुख महाकवियों के काव्यों की देन है।

—शुक्ल (द्विजेन्द्र नाथ)

निवेदन

हमारा समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—प्रथम भाग—भवन निवेश—अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, मूल पाठ तथा वास्तु पदावली निकल ही चुका है। उसके परिशीलन से विद्वान पाठक तथा प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रुचि रखने वाले आधुनिक इन्जीनियर तथा आर्कीटेक्टस एवं कला-कोविद इन सभी ने अपनी प्राचीन देन का अवश्य मूल्यांकन किया होगा। भारत का यह स्थापत्य Hindu Science of Architecture कितना वैज्ञानिक और प्रवृद्ध था—इसमें अब किसी को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं रही है। हमारे देश में बहुत से भारत भारती के विशेषज्ञ अभी तक इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों को न वैज्ञानिक मानते रहे, न उनको समझने में सफलता मिल सकी, अतः वे यही आकूत करते आये हैं कि ये ग्रंथ पौराणिक हैं, कपोल-कल्पित हैं अथवा अतिरंजित हैं।

भवन-निवेश—यह ग्रंथ एक प्रकार से भारतवर्ष के स्थापत्य में पुनरुत्थान कर सकता है। यह पुनरुत्थान भारत के आधुनिक स्थापत्य में स्वर्ण-युग Renaissance का प्रादुर्भाव प्रकट कर सकता है, यदि लोग इसको ठीक तरह से पढ़ें और इन्जीनियरिंग (Civil Engineering) और आर्कीटेक्चर के कोर्स में इसे सम्मिलित करें। अनुसंधान-कर्ताओं का काम अन्वेषण करना है उसका रूप प्रकट करना है। जहाँ तक उसका उपयोग और उसकी उपादेयता का प्रश्न है वह तो शासकों और संचालकों के हाथ में है। हमारे देश की जल-वायु के अनुकूल संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल, रहन-सहन-आचार-विचार-निवास-परिधान के अनुरूप जैसा भवन निवेश हमारे पूर्वजों ने परिकल्पित किया था वही हमारे देश के लिए अनुकूल है तथा कल्याणकारी है।

वैपरीत्याचरण से एवं पश्चिम के अन्धानुकरण से इस दिशा में महान् अनर्थ तथा क्षति की पूर्ण सम्भावना है। इस उष्ण-प्रधान देश में सीमेंट (पत्थर) के खम्भ तथा छतें और दीवालें महान् हानिकारक हैं। इसी लिए हमारे पूर्वजों ने जहाँ बड़े-बड़े उत्तुंग शिखरावलियों से विभूषित, नाना विमानों से अलङ्कृत मंदिर प्रासाद, धाम, राज-वेश्म बनवाये वहाँ अपने निवास के

लिए शाल भवन ही अनुकूल समझते रहे जिन मे छप्परो (छाद्यो) तथा मार्तिक भित्तियो तथा काष्ठ-विनिर्मित, खचित, सज्जित स्तम्भो का ही प्रयोग किया जाता रहा है। इसका आधार निम्नलिखित पौराणिक तथा आगमिक आदेश था—"शिलाकुड्य शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत्"।

राज निवेश एव राजसी कलायें—अस्तु, इस दिग्दशन के उपरान्त अब हम अपने इस प्रकाशन—राज-निवेश एव राजसी कलायें—यन्त्र एव चित्र के साथ राज-निवेश (Palace Architecture) की ओर आते हैं। इस ग्रन्थ मे चित्र-कला विशेष व्याख्यात है। राज-निवेश पर इस निवदना मे विशेष निवदन की आवश्यकता नही, वह अध्ययन मे पढें। जहा तक यन्त्र एव चित्र का साहचय हैं, वह सब राज-सरक्षण ही आधार था।

आज तक भारतीय यान्त्रिक विज्ञान पर कही भी किसी ने भी खोज नही की। बात यह है कि यद्यपि यन्त्रो के, विमानो (जैसे पुष्पक-विमान आदि) के नाना सन्दभ प्राचीन साहित्य मे प्राप्त होते हैं परन्तु इस विज्ञान पर समरागण सूत्रधार को छोडकर कही पर किसी भी ग्रन्थ मे आज तक यह विज्ञान नही प्राप्त हुआ है। मैं अपने अग्रेजी ग्रन्थ—Vastusastra Volume I—Hindu Science of Architecture मे इस यन्त्र-विज्ञान पर पहिले ही व्याख्या कर चुका हूँ। अब हिन्दी मे यह प्रथम प्रयास है और पाठक तथा विद्वान् इस ग्रन्थ के परिशीलन से अपने भूत का मूल्याकन अवश्य कर सकेंगे।

अब आइये चित्रकला की ओर। यद्यपि भारत के चित्र-कला निदशन जैसे अजन्ता, बाघ सिगिरिया आदि प्रख्यात चित्र-पीठो पर जो उपलब्ध हो रहे हैं, उन पर बहुत से विद्वानो ने कलम चलाई है और ऐतिहासिक समीक्षा भी की है परन्तु शास्त्र (Canons) और कला इन दोनो का समन्वयात्मक अथवा आधाराधेय-भावात्मक (Synthetic) समीक्षण किसी ने नही किया है। सवप्रथम श्रेय डा० स्टला क्रमरिश को है, जिन्होने चित्र शास्त्र के प्रथित-कीर्ति पुराण ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर का अग्रजी मे अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उन के बाद यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने अपने डी० लिट्० के अनुसन्धान के लिए Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting जो विषय चुना था, उसी ने मुझे यह अवसर दिया कि समस्त चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो जसे भरत का नाट्य शास्त्र, नग्न्द शिल्प सारस्वत-चित्र-कम विष्णु-धर्मोत्तर समरागण-सूत्रधार, अपराजित पृच्छा, मानसोल्लास

आदि सभी प्राप्त चित्र ग्रथो का परिशीलन, आलोडन, अनुसन्धान गवेषण और मनन के उपरा त हमने एक अति वैज्ञानिक तथा पाद्धतिक चित्र लक्षण बनाया और उसको पुन व्याख्यात्मक तथा एतिहासिक एव साहित्यिक दोनो परिपाटियो स एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रब धान (Hindu Canons of Painting) को देखकर भारत के प्रख्यात तथा धुरन्धर विद्वानो न जैस महामहोपाध्याय मिराशी डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रो• सी० टी० चैटर्जी आदि ने बडी ही प्रशसा की और यहा तक लिख मारा—This is a land mark in Contemporary Indology both in India and Europe

मरे पी-एच०डी• अनुसन्धान (A Study of Bhoja s Samarangna Sutradhara—a treatise on the science of Art and Architecture) पर प्रख्यात कला-ममीक्षक एव प्रथितकीर्ति डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अभूतपूर्व प्रशसा ही नही की वरन् लखनऊ विश्व-विद्यालय को बधाई भी दी। मेरे लिए उनका यह वाक्य(The award of Ph D Degree is the least credit for such a scientific and conscientious labour) बडा प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हुआ, जिस से मैंने इस विषय को आजीवन निष्ठा के रूप म अ ङ्गीकृत कर लिया है। इन दोनो प्रबन्धो की वरण्य प्रशसा एव कीर्ति के कारण सस्कृत क महान सरक्षक एव शुभ चिन्तक डा० देशमुख (भूतपूर्व यू०जी०सी० चेयरमन) न इनके विस्तत अध्ययन-पुरस्सर दो बृहदाकार ग्र था के रूप म परिणत करन के लिए दस हजार रुपय का अनुदान दिया। उसी क कारण मरे य दो अग्रजी ग्रथ भी प्रकाशित हो सके—

1—Vastu Sastra Volume I—Hindu Science of Architecture with esp reference to Bhoja s Samarangna Sutradhara

2—Vastusatra Volume II—Hindu Canons of Iconography and Painting

अपने अंग्रेजी ग्र था मे इनका पूर्ण विस्तार एव कला और शास्त्र दोनो दृष्टियो से इनका प्रतिपादन किया। हिन्दी के पारिभाषिक साहित्य का श्री-गणेश करने का जो मन बीडा उठाया था, अपनी कृतियो से भारतीय वास्तु-शास्त्र-सामान्य-पीठक के छै ग्रथो को तो प्रकाशित कर ही चुका हूँ। अब मे य त्र-विज्ञान तथा चित्र विज्ञान को लेकर इस ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन कर रहा हू। जहा तक इन दोनो विषयो की महिमा, गरिमा और

पद्धिमा का सम्बन्ध है वह अध्ययन मे देखिए। अब अन्त मे हमे यह भी सूचित करना है कि भारत-सरकार शिक्षा-सचिवालय मे जो अनुदान इन ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए १९५९ म मिला था, उसके सम्बन्ध में हम पहले ही सूचना दे चुके हैं और अध्ययन मे भी इसका कुछ सकेत है, तथापि मैं अपना परम-कर्तव्य समझता हू कि अब लगभग १० वष पुराना यह अनुदान कैसे उपयोग किया जा रहा है। पहला कारण तो यह था कि अनुदान की निधि स्वल्प थी, पत्र व्यवहार से भी कोई लाभ नही हुआ तो हमारे सामने समस्या उठ खडी हुई कि इसको तिलाञ्जलि द द कि पुरानी प्ररणा (लखनऊ वाली जिसके द्वार उत्तर-प्रदश सरकार से प्राप्त अनुदान मे जो चार प्रकाशन किये थे) से उसी तरह से करू कि न करू। यद्यपि न इस मे अर्थ-लाभ, न कीर्ति, न इनाम, क्योकि जब तक कोई वयक्तिक सिफारिश न हो तब तक इन अभूत पूर्व अनुसन्धानो को साहित्य-एकेडेमी, ललित कला ऐकेडमी क्या पूछेगी। उनके अपने-अपने सलाहकार होत हैं, व जैसी सम्मति देत हैं, वैस ही व्यक्ति पुरस्कृत होते हैं। हमारे देश म कोई National Screening Committee तो है नही जो इन निणयो की स्क्रीनिंग कर तथा अपुरस्कृत व्यक्तियो को सामने लाये। झटिति मुझ यह वाक्य स्मरण आया —

'अगीकृत सुकृतिन परिपालयन्ति'

तो फिर इन वैयक्तिक लाभो को चन्द्र-हस्त देकर अपनी अगीकृत निष्ठा को निभान का बीडा उठाया। १९६७ फरवरी की बात सुनें। मैं अपने बहुत पुराने सतीर्थ (लखनऊ विश्वविद्यालय मे जमन कक्षा के) डा० परमेश्वरीदीन शुक्ल से मिला, तो मित्र न पाकर कठोर शासक के रूप म पाया। यमवत् क्रुद्ध होकर कहने लगे—"शुक्ल जी महाराज, आपकी सारी ग्राट खत्म कर दूगा। लगभग १० साल होने आये और अब तक आप ने उसे पूरा यूटीलाइज नहीं किया।" 'धन्य हो यमराज! आपका चैलज स्वीकार है। जाता हूँ दिन रात जुटकर काम करूगा—वर्से जैसी भगवदिच्छा'। अगर डाक्टर शुक्ल का यह रवया न होता तो यह काम न हो पाता। आशा है इस रवैये से राष्ट्र के कार्यो मे एक नवीन स्फूर्ति हो सकेगी। डा० शुक्ल वास्तव मे एक सच्चे सलाहकार हैं।

इस स्तम्भ मे मैं अपने वतमान उप-कुलपति श्रीमान् लाला सूरजभान को विस्मत नही कर सकता। इन के आगमन से मुझ स्वस्थता (स्वस्मिन् तिष्ठति

स स्वस्थ) मिली अत अपने अनुसन्धान आदि काय म जो अनुद्विग्न होकर प्रवत्त हो सका, यही स्वस्थता है। मेरी सबसे बडी विजय लाला जी क आगमन से सत्य का प्रकाश हुआ। एमे स्थिर प्रज्ञ तथा धीर, गम्भीर एव अप्रभावित व्यक्ति ही इतने बड़े विश्वविद्यालय का सचालन कर सकते है। कामना है कि यदि तीन टम स तक उप कुलपति पद को शाभित करत रहें तो सस्कृत का यह दूसरा अनुसन्धान दश ग्रन्थ-शिल्प-शास्त्र अनुसधान आयोजन जिसे इस पजाब विश्वविद्यालय न स्वीकृत कर ही लिया य० जी० सी० को First Priority Proposals For Fourth Five Yea Plan म भेजा है और यू० जी० सी० ने भी समझदारी से इसको यदि मान लिया, अनुदान स्वीकृत किया तो देश देशान्तर द्वीप द्वीपान्तर म इस अनुस धान से एक नया युग एव नयी अभिरुचि का प्रादुर्भाव होगा। दखें क्या होना है। यह विधि विधान है। मानव न रोक सकेगा न बना सकगा।

अत मे यह भी सूचित करना परमावश्यक है कि बड सौभाग्य की बात है कि पजाबियो मे एक सस्कृतज्ञ सिक्ख श्री त्रिलोचन सिंह स साक्षात्कार हो गया जो यूनिवर्सिटी कैम्पस के समीप प्रस चला रह हैं। इन सरदार न कमाल कर दिया और बडे उत्साह और लगन स काय किया है। सरदार त्रिलोचनसिंह अपनी वचन बद्धता के लिए पूण प्रयास कर रह है।

जहा तक कुछ अशुद्धियो का प्रश्न है वह स्वाभाविक ही है। जब ग्रथकार प्रूफ को पढता है तो अशुद्ध का भी शुद्ध पड जाता है। साथ-ही साथ हमार दश के जो छापेखान हैं उनमे बडे ही विरले कुशल प्रूफ-रीडर मिलत हैं। अत आशा है कि पाठक कुछ यत्र-तत्र-सवत्र जहा पर छापे की अशद्धिया है, उनका शोधन आप ठीक कर लेगे। जहा तक पारिभाषिक शब्दो का प्रश्न है उसकी तालिका—शुद्ध तालिका (दे० शब्दानुक्रमणी) से प्रत्यक्ष हैं।

अस्तु अन्त मे यह ही कहना है—

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधव ॥

आषाढी सम्वत् १९२४ **द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल**

प्रकाशन-विवरण

उत्तर-प्रदेश-राज्य तथा केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से प्राप्त अनुदान एवं निजी व्यय से प्रकाशित एवं प्रकाश्य—

समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय—भारतीय-वास्तु-शास्त्र सामान्य-शीर्षक निम्न दश ग्रन्थ प्रकाशन-प्रायोजन —

उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता से

१ वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश

२ प्रतिमा विज्ञान

३ प्रतिमा-लक्षण

४ चित्र-लक्षण तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से

भवन-निवेश—(Civil Architecture)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-पदावली

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—यन्त्र एवं चित्र (Royal Arts Yantras and Citras)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु शिल्प चित्र-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Art and Architecture)

प्रथम भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—अध्ययन

षडग तथा अष्टाग, चित्र विधा—सत्य, वैणिक, नागर मिश्र, विद्ध अविद्ध धूली रस, भाव, वर्तिका, भूमि-बन्धन—कुड्य-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि बन्धन, पट-भूमि बन्धन, चित्राधार एव चित्रमान—अण्डक प्रमाण, रूप-मान, मानोत्पत्ति, चित्र-प्रमाण-प्रक्रिया (Iconometry), समलम्बित मान (Vertical measurements)—मस्तक-सूत्र, केशान्त-सूत्र आदि गुल्फान्त-सूत्र, भूमि-सूत्रान्त, लप्य कर्म—मार्तिक लेपन, स्निग्धानुलेपन, आलेख्य-कर्म — वर्ण एव कूचक, कान्ति एव विच्छित्ति (छाया, कान्ति, क्षय-वृद्धि सिद्धान्त), शुद्ध वर्ण (मूल-रग), मिश्र वर्ण (अन्तरित-रग), रग-द्रव्य—स्वर्ण-प्रयोग—पत्र विन्यास तथा रस क्रिया पञ्च विध कूचक, त्रिविधा लेखनी—तूलिका, लेखनी, विलेखा, वर्तना—क्षय वृद्धि सिद्धान्त, वर्तना-प्रभेद, त्रिविध—पत्रजा, ऐरिक तथा बिन्दुज, चित्र एव रस—एकादश चित्र-रस, अष्टादश रस-दृष्टियां, चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य कला नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि, चित्र शैलियां (पत्र एव कण्टक के आधार पर)—चित्र पत्र—षड्-विध—नागरादि-यामुनान्त, चित्र पत्र कण्टक—अष्ट-विध—कलि-प्रमृति भग चित्रकान्त, चित्र-शैलियां—देव-शैली, यक्ष-शैली, नागर-शैली, चित्रकार एव उसकी कला, चित्र-गुण, चित्र-दोष,

चित्रकला के पुरातत्वीय एव साहित्यिक निदर्शनो एव सदर्भो पर एक विहगावलोकन

पुरातत्वीय उपोद्घात—पुरातत्वीय निदर्शन—पूर्व-ईसवीय तथा उत्तर-ईसवीय, पूर्व-ईसवीय—प्राग्-ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक, प्राग ऐतिहासिक—कामूर-पर्वत श्रेणी, विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी, अन्य पर्वत श्रेणियां—मध्य-प्रदेश, मिर्जापुर—उत्तर-प्रदेश के समीपीय कन्दरायें, ऐतिहासिक—पूर्व ईसवीय—सिर-गुजा क्षत्रीय—जोगी मारा कन्दरा, ईसवीयोत्तर—बौद्ध-काल, हिन्दू काल, मुसलिम-काल, बौद्ध-काल—अजन्ता—नाना गुफाओ मे प्राप्त चित्र तथा काल-निर्धारण एव विषय-वर्गीकरण, सरक्षण, चित्र द्रव्य एव चित्र-प्रक्रिया—वर्ण-विन्यास एव तूलिका, चित्र-शास्त्र एव चित्र-कला, सिंघल-द्वीप-सिगरिया, बाघ हिन्दू काल—जैन ग्रन्थ-चित्रण, जैन-चित्र राजपूत-चित्र-कला, पजाब (कागरा की राजपूती कला), मुगल चित्र कला।

साहित्यिक उपोद्घात—वैदिक वाङमय, पालि वाङ्मय, रामायण एव महाभारत पुराण शिल्प शास्त्र काव्य तथा नाटक—कालिदास, बाण-भट्ट दण्डी भवभूति माघ हर्ष-देव, राजशेखर, श्रीहर्ष, धनपाल, सोमेश्वर सूरि।

ग्रन्थ-चित्रण

पृ० स० १-१२४

द्वितीय खण्ड—अनुवाद

प्रथम पटल—प्रारम्भिका

द्वितीय-पटल

राज निवेश एव राज निवशोचित-भवन उपभवन तथा उपकरण

तृतीय-पटल—शयनासन विधान—वधकि-कौशल

चतुथ-पटल—यन्त्र-विधान

यन्त्र-लक्षण यन्त्र शब्द निवचन यन्त्र-बीज, यन्त्र प्रकार यन्त्र गुण, यन्त्र विधा यन्त्र-घटना, यान्त्रिक-विज्ञान की परम्परा-पारम्पय कौशल, गुरूपदेश वास्तु कम, उद्यम तथा धी यन्त्र-विनान गुप्ति।

पचम-पटल—चित्र-लक्षण

चित्र-प्रशसा, चित्रोद्देश, चित्राग भूमि-बन्धन लप्य-कर्मादिक, अण्डक-प्रमाण आदि एव चित्र-रसादि।

षष्ठ-पटल—चित्र एव प्रतिमा के सामान्य लक्षण

चित्र एव प्रतिमा द्रव्य, निर्माण-विधि, प्रतिमा-मानादि—अगोपाग-प्रत्यग, प्रतिमा विशेष—ब्रह्मादि, लोकपालादि पिशाचादि यक्षादि—सामान्य लक्षण एव

रूप प्रहरण-सयोगादि-लक्षण, प्रतिमा दोष गुण-निरूपण, प्रतिमा-मुद्रा—ऋज्वागतादि स्थानक मुद्राए, वैष्णवादि शरीर मुद्राए, पताकादि ६४ सयुत-असयुत-नृत्य मुद्राए—

प्रथम खण्ड

अध्ययन

राज-निवेश एवं राजसी कलाये

यन्त्र एवं चित्र

उपोद्घात —ललित कलाओ का जन्म एव विकास एक मात्र केवल पूर्व-मध्य-कालीन अथवा उत्तर-मध्य-कालीन नही समझना चाहिए। यद्यपि ललित कलाओ मे विशेषकर चित्र-कला, प्रस्तर-कला आदि के स्मारक-निदर्शन इसी काल मे विशेष रूप से पाए जाते है, परन्तु पुरातत्त्वीय अन्वेषणो तथा प्राचीन साहित्य से ये कलायें ईसा से बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थी। भारतीय संस्कृति मे भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो उत्कर्षों के पक्षो पर हमारे पूर्वजो ने पूर्णरूप से अभिनिवेश प्रदान किया था। वैदिक काल मे नाट्य, सगीत, नृत्य तथा आलेख्य पूर्ण-रूप से प्रचलित थे। इसका सबसे बडा प्रमाण है भरत का नाट्य-शास्त्र है। जनानुरंजन एव *जनता मे उपदेशात्मक, मनोरञ्जनात्मक, ज्ञानात्मक गाथाओ के द्वारा प्रचार* करने के लिए ब्रह्मा ने नाट्य वेद की रचना की जो पाचवे वेद के नाम से प्रकीर्तित किया गया।

वात्स्यायन का काम सूत्र भौतिक विकास का एक महान दर्पण है जिसमे नागरिको के लिए चतुष्षष्टि-कला-सेवन एक प्रकार से इनके जीवन और सामाजिक सभ्यता का अभिन्न एव अनिवार्य अग था। स्टेला क्रैमरिश' ने विष्णुधर्मोत्तर के अनुवाद की भूमिका मे जो लिखा है—'Every citizen had a bowl and brush'—वह वास्तव मे बडा ही सार्थक एव सत्य है। इन चौंसठ कलाओ में नृत्य वाद्य, गीत आलेख्य के साथ साथ नाना अन्य शिल्प-कलाओ का भी सँकीर्तन है जिसमे प्रतिमाला, यन्त्र-मात्रिका आदि भी परिगणित हैं। इससे इन कलाओ को यदि हम भिन्न भिन्न वर्गो मे वर्गीकृत करें, तो न केवल तथाकथित ललित-कलाओ, जैसे प्रमुख छै कलाए—काव्य, नाट्य नृत्य, सगीत, चित्र (आलेख्य), शिल्प एव वास्तु ही उस समय ललित कलाओ के रूप मे नही सेव्य थी, वरन् व्यावसायिक एव औपजीविक कलाओ (Commercial and Professional Arts) को भी पूर्ण सरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। पुष्पास्तरण, पुष्प-विकल्पन, नेपथ्य-विकल्प, दारु-कर्म, तक्षक-कर्म धातु-वाद प्रतिमाला, यान-मानिका आदि सभी इन्ही दो कोटियो मे आती हैं।

राजाओ के दरबार को ही सब प्रमुख श्रेय है, जिसने इन सभी कलाओ की उन्नति मे महान योगदान दिया।

हम यह भी नही विस्मृत कर सकते कि हमारा देश केवल धर्म और दर्शन की ओर ही सदा जागरूक रहा। वैज्ञानिक एव परिभाषिक शास्त्रो को भी

इस देश में पूरे रूप से प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान किया गया। कोई भी संस्कृति और सभ्यता आध्यात्मिक और भौतिक दोनों उन्नतियों के बिना जीवित नहीं रह सकती। इसी लिए धर्म की परिभाषा में बड़े सूझ-बूझ के महर्षि कपिल ने जो निम्न प्रवचन दिया वह कितना सार्थक है —

"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

दुर्भाग्य का विलास है कि आधुनिक संस्कृत-समाज वैदिक, पौराणिक, धर्म शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों के अतिरिक्त अपने अत्यन्त प्रौन्नत एवं प्रवृद्ध वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों से अपरिचित है। वेदों का तो अब भी प्रचार है, किन्तु उपवेद भी थे कि नहीं—इसका बड़ा ही न्यून ज्ञान एवं प्रचार है। उपवेदों में आयुर्वेद और धनुर्वेद के अतिरिक्त अन्य शेष उपवेदों का शायद ही किसी को ज्ञान हो। हमारे ऋषि-महर्षि और पूर्वज बड़े ही परिवर्तन-शील तथा काल दर्शी थे। परन्तु हम इतने महान् परिवर्तन शील समय में यदि अब भी रूढ़ि-वादी एवं काल-प्रतिक्रिया-शून्य वादी रहें तो हम अपनी संस्कृति के प्रति कितना धोखा दे रहे हैं कि हम प्रत्येक दिशा में योरूप का अंधानुकरण कर रहे हैं और अपनी सारी थाती को विस्मृत कर चुके हैं।

जहाँ चार वेद थे वहाँ चार उपवेद भी थे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद था, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद था सामवेद का उपवेद गान्धर्व-वेद था, जिसमें नृत्य, नाट्य, संगीत आदि सभी प्रौढ़ि को प्राप्त कर चुके थे, अथर्ववेद का उपवेद-स्थापत्य वेद था इसी उपवेद में पारिभाषिक विज्ञान जैसे Engineering, Architecture आदि तथा यन्त्र-विज्ञान भी काफी प्रकर्ष को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार एक शब्द में यह कहा जा सकता है शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण इन छैः वेदांगों के साथ उपर्युक्त चार उपवेदों के द्वारा प्रायः सभी विज्ञानों (Pure, Positive and Technical) का जन्म एवं विकास हुआ।

धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव विरचित समरांगण सूत्रधार ही एक-मात्र पूर्व मध्यकालीन, अधिकृत उपलब्ध शिल्प-ग्रन्थ है, जिस में स्थापत्य की प्रायः सभी प्रमुख कलाओं का प्रतिपादन है। अन्य प्राप्य वास्तु-शिल्प-ग्रन्थों में केवल भवन कला, नगर-कला, मूर्ति-कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं की व्याख्या नहीं प्राप्त होती है। शिल्प-रत्न एक प्रकार से अर्वाचीन ग्रन्थ है, जो उत्तर मध्यकाल के बाद लिखा गया था, उसमें भी इन तीनों कलाओं के साथ चित्र-कला का भी वर्णन है। इसी तरह अपराजित पृच्छा में भी इन चार प्रधान स्थापत्य-कलाओं का प्रतिपादन है।

समरागण-सूत्रधार ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमे निम्न छहो कलाओ का अधिकृत विवेचन है —

१ भवन-कला	२ नगर-कला
३ प्रासाद-कला	४ मूर्ति-कला
५ चित्र-कला	६ यन्त्र-कला

अपराजित-पृच्छा को छोडकर अन्य ग्रन्थो म जैसे मानसार एव मयमत आदि मे भवन-कला मे भवन केवल विमान अथवा प्रासाद है। इस प्रकार स ये ग्रन्थ (Civil Architecture) से सवथा शून्य है। समरागण-सूत्रधार ही हमारे देश मे (Civil Architecture) का स्थापक ग्रन्थ है। चूंकि यह स्तम्भ मानस्य एव यन्त्र से सम्बद्ध है अत इस विषयान्तर पर पाठक हमारा भवन-निवेश को देखें।

समराङ्गण-सूत्रधार का अध्ययन —अस्तु इस उपोद्घात् क उपरान्त हमे समरागण-सूत्रधार के अध्ययन की ओर विद्वानो को आकर्षित करना है। भारत सरकार ने भारतीय वास्तु-शास्त्र देश ग्र न्थ-प्रकाशन-आयोजन म अवशष जिन छै ग्रन्थो के लिए अनुदान स्वीकृत किया था उसके अनुसार अपनी पुन परिष्कृत योजना मे निम्न प्रकाशन व्यवस्था की है —

१—भवन-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एव वास्तु-पदावली
२—प्रासाद-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद
	भाग द्वितीय मूल एव शिल्प-पदावली
३ - यन्त्र एव चित्र	भाग प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एव चित्र-पदावली।

टि० —प्रथम प्रकाशन (भवन-निवेश) के अनुसार ग्रन्थ-कलेवरानुरूप कुछ परिवतन भी अपेक्षित हो सकता है।

भवन-निवेश के दोनो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब इन चारो भागो क प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है तो उपयुक्त व्यवस्था मे थोडा सा परिवतन अनिवाय हो गया है। इन अवशष चारो भागो को निम्न रूप प्रदान किया है जिसमे महती निष्ठा के साथ तथा सतत प्रयत्न एव अध्यवसाय के साथ इन चारो ग्रन्थो को प्रकाश्य बना सका हू वे अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे तथा हमारे पूर्वजो की पारिभाषिक एव वैज्ञानिक देन का मूल्याङ्कन भी हो सकेगा।

सब-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि हम राज-भवन को प्रासाद-निवेश मे शिल्पशास्त्रीय दृष्टि से सम्मिलित नही कर सकते। इस पर प्रासाद-निवेश मे जो हमने परिपुष्ट प्रमाणो से इस सिद्धान्त को दृढ किया है वह वही पठनीय है। पुनश्च चित्र और यन्त्र ये सब लक्षित कलाए राज भवन के अभिन्न अग थे। अतएव चित्र एव यन्त्र को हमने राज-निवेश राज-भवन उपकरण, राज-भोगोचित विलास क्रीडाओ म सम्मिलित किया है। आलेख्य अर्थात् चित्र-कला एव यन्त्र जैसे आमोद, सेवक द्वारपाल योध विमान, धारा एव दोला आदि यन्त्रो का एकत्र व्यवस्थापन कर इस तृतीय खण्ड को द्वितीय खण्ड के रूप म प्रकल्पित कर दिया है। भारतीय स्थापत्य का सबसे प्रमुख शास्त्रीय एव स्मारक प्रोल्लास प्रासाद-शिल्प (Temple Architecture) है। वह एक प्रकार से चर्मोन्नति तथा विकास है अत उसको अन्तिम अर्थात् तृतीय खण्ड मे व्यवस्थापित किया है। अत जैसा ऊपर सकेत किया है कि प्रथम विभागीकरण से थोडा अन्तर होगा—अर्थात् तृतीय अध्ययन द्वितीय अध्ययन के रूप म परिवर्तित कर दिया गया है। अतएव निम्न अवशेष चारो भागो की तालिका उद्धृत की जाती है —

१	यन्त्र एव चित्र	भाग-प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद।
२	यन्त्र एव चित्र	भाग-द्वितीय—मूल एव वास्तु-शिल्प-चित्र पदावली
३	प्रासाद-निवेश	प्रथम भाग अध्ययन एव अनुवाद।
४	प्रासाद निवेश	मूल एव शिल्प-पदावली।

राज सरक्षण मे प्रोल्लसित स्थापत्य —इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इस भूमिका म यन्त्र एव चित्र पर शास्त्रीय दृष्टि से थोडा सा विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं। स्थापत्य को हम तीन तरह से समझने की कोशिश करें —

अ चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताए
ब स्थपति कोटि-चतुष्टय
स अष्टाग स्थापत्य

जहा तक 'अ' और 'स' का प्रश्न है वह हम अपने भवन-निवेश मे पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अत यहा पर इन दोनों की अवतारणा आवश्यक नही। यहा पर स्थपति-कोटि-चतुष्टय की अवतारणा अनिवार्य है। मानसार मयमत आदि तथा समरागण-सूत्रधार आदि शिल्प एव वास्तु ग्रन्थो से निम्न लिखित शिल्पियो की चार कोटिया प्राप्त होती है —

१ स्थपति (Architect-in-Chief)
२ सूत्र-ग्राही (Engineer)
३ वर्धकि (Carpenter)
४ तक्षक (Sculptor)

जहा तक इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है उसमे स्थपति, वर्धकि और तक्षक की कलाओ का विशेष साहचर्य है। राज निवेशोचित एव राज भोगोचित केवल चित्र-कलाए (आलेख्य एव पाषाणजा तथा धातुजा) ही अनिवार्य अग नही थी वरन् राज-भवनो मे शयन अर्थात् शय्या, आसन अर्थात् -सिहासन आदि, पादुका कघे आदि फर्नीचरो का भी इन कलाओ मे वर्धकि का कौशल माना गया है। अत हम इस ग्रन्थ मे शयनासन-सम्बन्धी अध्यायो को भी लाकर इस परिमार्जित सस्करण से वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की है।

समरागण सूत्रधार के परिमार्जित सस्करण का जहा तक भवन-निवेश का सम्बन्ध था वह हम भवन-निवेश के अध्ययन मे पहले ही कर चुके हैं। अब यहा पर इस भाग म आगे के ग्रन्थ-अध्यायो के परिमार्जित सस्करण-तालिका उपस्थित करेंगे, परन्तु इससे पूर्व हमे एक मौलिक आधार पर विद्वानो और पाठकों का ध्यान आकृपित करना है।

'चित्र' पद का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही है। स्थापत्य कौशल की दृष्टि से चित्र का पारिभाषिक एव शास्त्रीय अर्थ प्रतिमा है। इसीलिए पुराणो म (देखिए विष्णुधर्मोत्तर), आगमो म (देखिए कामिकागम) तथा अन्य दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थो (जैसे मानसार, मयमत आदि) म सभी म चित्र अर्थात प्रतिमा के निर्माण मे तीन आधार-भौतिक (Fundamental) आकारानुरूप प्रकार बताए गए हैं —

१ चित्र (Fully Sculptured)
२ अर्ध-चित्र (Half Sculptured)
३ चित्राभास (Painting)

पुन परिमार्जन—अतएव हमने चित्र के विवेचन म समरागण का प्रतिमा-बन्ध-कलेवर भी चित्र-निवेश के साथ व्यवस्थापित किया है। अत अब हम समरागण के इस अध्ययन मे अध्यायो के परिमार्जित सस्करण की दृष्टि से जो व्यवस्था की है, उसकी यह तालिका अब उद्धृत की जाती है।

भवन-निवेश मे हमने समरांगण के ८३ अध्यायों मे से ३९ अध्यायो की वैज्ञानिक पद्धति से जो परिमार्जित एव सस्कृत अध्याय तालिका प्रस्तुत की है- वह

वही द्रष्टव्य है । यहा पर चालीसवें अध्याय से यह तालिका प्रस्तुत की जाती है। इसकी अवतारणा के पूर्व प्रमुख विषयो पर भी प्रकाश डालना उचित है, जो तीन खण्डो में प्रविभाज्य है।

अ राज-निवेश १ प्रारम्भिका,
२ राज निवेश एवं राज-भवन,
३ राज-भवन-उपकरण—सभा, अश्व-शालादि,
४ राजभवनोचित फर्नीचर—शयनासनादि,
५ राज-विलासोचित—यन्त्रादि ।

ब राज संरक्षण में प्रवृद्ध कलाएं—चित्र-कला (Painting)

स राज पूजापयोगी-प्रतिमा-शिल्प—प्रतिमा कला (Sculpture)

अ राज-निवेश

परिमार्जित सख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक सख्या
	प्रथम पटल—प्रारम्भिका	
४०	वेदी लक्षण	४७
४१	पीठ-मान	४०
	द्वितीय पटल—राजनिवेश राज भवन एवं उपकरण	
४२	राज-निवेश	१५
४३	राज-गृह	३०
	राजभवन-उपकरण ।	
४४	सभाष्टक	२७
४५	गज-शाला	३२
४६	अश्व शाला	३३
४७	नृपायतन	५१
	तृतीय पटल—शयनासनादि-विधान	
४८	शयनासन लक्षण	२९
	चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान	
४९	यन्त्राध्याय	३१
	पञ्चम पटल—चित्र लक्षण	
५०	चित्रोद्देश	७१
५१	भूमि-बन्धन	७२

राज सरक्षण मे पल्लवित एव विकसित इन ललित कलाओ की ओर थोडा सा उपोद्घात एव इस ग्रन्थ की परिमार्जित सस्करण की ओर पाठको एव विद्वानो का ध्यान दिलाकर अब हम इस अध्ययन की ओर आ रहे है। इस अध्ययन में हमे निम्नलिखित तीन स्तम्भो पर प्रकाश डालना हैं —

१ राज निवेश एव राज निवशोचित भवन, उप भवन एव उपकरण,

२ यन्त्र विधान,

३ चित्र-विधान।

वेसे तो हमने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) मे इन विषयो को निम्नलिखित षट् पटलो मे विभाजित किया है जो शास्त्रीय विषय-वैशिष्ट्य की ओर सकेत करता है —

प्रथम पटल—प्रारम्भिका—वेदी एव पीठ;

द्वितीय पटल—राज-निवेश एव राज-निवेशोपकरण।

तृतीय पटल—शयनासन-विधान,

चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान,

पचम पटल—चित्र-कर्म,

षष्ठ पटल—चित्र एव प्रतिमा के सामान्य अग।

परन्तु अध्ययन की दृष्टि से यथा-सूचित स्थपति-कोटि-चतुष्टय के अनुसार राज-निवेश स्थपति का कौशल है, शयनासन वर्धकि का कौशल है यन्त्र तो वर्धकि एवं स्थपति दोनों के कौशल, हैं, ये स्वतः सिद्ध होते हैं। चित्र-कर्म तक्षक (Sculptor) और चित्र-कार (Painter), दोनों में विभाजित हो सकता है। इस दृष्टि से हमने इस अध्ययन को केवल तीन ही स्तम्भों में परिशीलन समीचीन समझा। पहले हम राज निवेश ले रहे हैं जिसमें राज निवेश, राज भवन, राज-निवेश-उपकरण तथा राजोचित शयनासन तथा राज-विलासोचित यन्त्र भी गतार्थ है। अतः इस प्रमुख स्तम्भ में इन सभी सहायक स्तम्भों पर अलग अलग कुछ विचार करेंगे।

यतः राज-निवेश एवं ललित कलायें एक प्रकार से आश्रय-आश्रयि भाव-निबन्धन हैं, अतः ललित कलाओं जैसे चित्र एवं प्रतिमा का पूर्ण समन्वय असम्भाव्य है, जब तक इस राजाश्रय की देन को हम स्मरण न करें।

राज-निवेश

राज-प्रासाद के निवेश में सर्व-प्रमुख अंग कक्ष्यायें (Courts) थीं। रामायण (देखिए दशरथ और राम के राज-प्रासाद-वर्णन) और महाभारत में भी वैसी ही परम्परा पाई जाती है। राज प्रासादों में कक्ष्याओं का सन्निवेश मध्य-कालीन एवं उत्तर मध्य कालीन किसी भी राज प्रासाद को देखें तो उनमें कक्ष्याओं का सर्व-प्रमुख अंग दिखाई पड़ेगा। राज निवेश में राज-निवेश वास्तु का दूसरा प्रमुख अंग स्तम्भ बहुल सभायें, शालायें, सभा मण्डप सभा-प्रकोष्ठ थे। जहां तक भूमिकाओं (Storeys) का प्रश्न है वह समरांगण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-भवन में कोई वैशिष्ट्य नहीं रखती। समरांगण सूत्रधार में राज-निवेश त्रिविध परिकल्पित किया गया है—शासनोपयिक अर्थात् राजधानी और राज्य-सञ्चालन की दृष्टि से किस प्रकार से राज-निवेश परिकल्पित करना चाहिए, आवासोपयिक अर्थात् आवास की दृष्टि से राजा-रानियां विशेषकर महिषी, राजकुमार, राज-माता, अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि के वेश्मों के संस्थान आदि, पुनश्च राज निवेश की तीसरी आवश्यकता विलास-भवन है। समरांगण-सूत्रधार में राज-भवनों को दो वर्गों में वर्णित किया गया है—*निवास-भवन तथा विलास-भवन।*

जहां तक निवास-भवनों का प्रश्न है उनमें कक्ष्याएं अर्थात् शालाएं अलिन्द आदि विशेष महत्व रखते हैं। उनमें भौमिक भवनों (Storeyed Mansions) का कोई स्थान नहीं, परन्तु विलास-भवनों में भूमियों का अवश्य निवेश प्रदान

किया गया है। आवास की दृष्टि से वास्तु-शास्त्र-शिला भूमिकाओं का प्रयोग इस उष्ण-प्रधान देश मे उचित नही माना गया। हा विलास-भवनो मे भूमियो का यास शोभा-मात्र तथा वास्तु-विच्छित्ति-वैभव की दृष्टि स उत्तुङ्ग विमानकारो के कलेवर की दृष्टि स विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। चित्र-शालाए नृत्य-शालाए सगीत-शालाए आदि भी भौमिक विमानो के सदृश परिकल्पित की गई थी। ये सब विलास भवन हैं।

मयमत और मानसार मे जो विमान-वास्तु अथवा शाला-वास्तु का प्रतिपादन है, वह एक प्रकार से दाक्षिणात्य परम्परा का उद्बोधक है। हमारे देश मे दो प्रमुख स्थापत्य-शैलिया विकसित हुई एक नागर, दूसरी द्राविड। द्राविड कला नागो और असुरो की अति-प्राचीन कला से प्रभावित हुई। उत्तुङ्ग विमान शैलोपम, प्रसाद-शिखिरावलि-आभा से द्योतित इन भवनो का विकास विशेषकर दक्षिण भारत की महती देन है। नाग और असुर महान कुशल तक्षक थे। डा० जायसवाल ने अपने ग्रन्थ मे इस ऐतिहासिक तथ्य पर विशेष कर भारशिव नागों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। य शुग एव वाकाटक वश से बहुत पूर्व माने जाते हैं। पुरातत्वीय अन्वेषणो (मोहेनजोदाडो हडप्पा आदि) के निदर्शनो से भी यह परम्परा पुष्ट होती है। नागर वास्तु-विद्या के विकास पर वैदिक सस्कृति का विशेष प्रभाव है। शालाए ही उत्तरापथ की किसी भी भवन की अग्रजा थी। शालाओ एव शाल-भवनो के जन्म एव विकास के सम्बन्ध मे हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन (देखिए भवन-निवेश) म बडी ही मनोरक कहानी तथा ऐतिहासिक तथ्यो का विश्लेषण किया है। मयमत और मानसार को देखें तो उत्तरापथीय यह शाला-वास्तु इन दाक्षिणात्य ग्रन्थो मे विमान-वास्तु की गोद मे खेलन लगा। विमाना के सदृश शालाए भी भौमिक कल्पित की गई। शिखर तथा अन्य विमान भूषाए भी उनके अग बन गई।

अस्तु समराङ्गण-सूत्रधार की दृष्टि से राज प्रासाद के निवेश मे शालाओ के साथ अलिन्द (कक्ष्याए) तथा स्तम्भ विशेष महत्व रखते हैं। इस अध्ययन के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) मे जो राज-निवेश एव राज-गृह इन दो अध्यायो म जो विवरण प्राप्य हैं, उनसे यह औपोद्घातिक सिद्धान्त पूर्ण पुष्टि को प्राप्त होता है।

कोई भी भवन वास्तु-कला की दृष्टि से पूर्ण नही माना जा सकता, जब तक भव्य आकृति के लिए कुछ न कुछ विच्छित्तियो का अनिवार्य रूप से विन्यास

न बताया जाय। नागर-शैली के अनुसार राज-प्रासाद स्थापत्य मे महाद्वार प्रतोली, अट्टालक, प्राकार, वप्र और परिखा इन साधारण निवेश-क्रमो के साथ जहा तक विच्छित्तियो का प्रश्न है, उनमे तोरण, सिंह-कर्ण, निर्यूह, गवाक्ष, वितान और लुमाओं की भूषा एक प्रकार से अनिवार्य मानी गई है।

आधुनिक विद्वानो ने वितान वास्तु (Dome-Architecture)को फारस की देन (Persian Contribution) मानी है। इसी प्रकार से स्थापत्य पर कलम चलाने वाले लेखक धारागृह, लाजवर्दी जैसे रगो को भी फारस की देन मानते है। यह सब धारणाए भ्रान्त हैं। लाजवर्दी का हमने अपने चित्र-लक्षण (Hindu Conons of Painting) मे विष्णु-धर्मोत्तर के 'राजावर्त से, तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय इलाको मे लजावर शब्द के प्रचार से, जो समीक्षा दी है, उससे इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है। अब आइए वितान की ओर। वितान का अर्थ Canopy है और लुमाओ का अर्थ एक प्रकार से पुष्प-विच्छित्तिया है। वितानो के प्रकार पचीस माने गये हैं और लुमाए सप्तधा परिकीर्तित की गई है। समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ११वी शताब्दी का एक प्रतिष्ठित वास्तु-ग्रन्थ है। उससे पहले इस देश मे फारस का प्रभाव नगण्य था। उत्तर-मध्यकाल (विशेष कर मुगलकाल) मे फारस की बहुत सी परम्पराओ ने यहा पर अपने पैर जमाए, परन्तु इन वास्तु-वैभवो का पूर्ण परिपाक हो चुका था। मानकद ने भी अपराजित-पृच्छा की भूमिका मे इस तथ्य का परिपोषण किया है। धारा-गृह तो हमारे देश मे प्राचीन काल से राज-प्रासादो के प्रमुख अग थे, अत उन्हें फारस की देन मानना भ्रामक है। अस्तु, इस उपोदघात के बाद राज प्रासाद के नाना निवेशागो पर दृष्टि डालना उचित है।

राज-निवेशाग

१ निवास
२ धर्माधिकरण-स्थान
३ कोष्ठागार
४ पशि भवन, पशु भवन
५ महानस
६ आस्थान-मण्डप
७ भोजन-स्थान
८ वाद्य शाला
९ वर्दि-मागध-वस्म
१० चर्मायुध-शाला
११ स्वर्ण-कर्मान्त-भवन
१२ गुप्ति
१३ प्रेक्षा-गृह
१४. रथ-शाला

१५ गज-शाला
१६ वापी
१७ अन्त पुर
१८ क्रीडा-शैला आलय
१९ महिषी-भवन
२० राज-पत्नी-भवन
२१ राजकुमार-गृह-भवन
२२ राजकुमारी-भवन
२३ अरिष्टा-गृह
२४ अशोक-वनिका
२५ स्नान-गृह
२६ धारा गृह
२७ लता-गृह
२८ दारु शैल, दारु-गिरि
२९ पुष्प-वीथी—पुष्प वेश्म
३० यन्त्र-कर्मान्त भवन
३१ पान-गृह
३२ कोष्ठागार (२)
३३ आयुध मन्दिर
३४ कोष्ठागार (३)
३५ उदूखल भवन तथा शिला-यन्त्र
३६ दारु कर्मान्त-भवन
३७ व्यायाम-शाला
३८ नाट्य शाला
३९ चित्र शाला
४० भेषज-मन्दिर
४१ हस्ति-शाला (२)
४१ क्षार-गृह—गोशाला
४२ पुरोहित-सदन
४४ अभिषेचनक-स्थान
४५ अश्व शाला—मन्दुरा
४६ राज-पुत्र-वेश्म
४७ राज-पुत्र विद्यागम-शाला
४८ राज मातृ-भवन
४९ शिविका गृह
५० शय्या-गृह
५१ आसन-गृह—सिंहासन-भवन
५२ कासार तथा तड़ाग आदि
५३ नलिनी-दीर्घिका
५४ राज मातुल निकेतन
५५ राज-पितृव्य-भवन
५६ सामन्त वेश्म
५७ देव-कुल
५८ होराज्योतिषी-भवन
५९ सेनापति-प्रासाद
६० सभा

समरांगण-सूत्रधार के मलाध्याय (राज निवेश) में वर्णित इन निवेशों की इतनी सुदीर्घ तालिका देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि इस राज-निवेश में आवास-निवेशों (Domestic Establishments) तथा शासन-निवेशों (Administrative Establishments)में पार्थक्य तथा इन दोनों का भिन्न भिन्न निवेश-क्रम अर्थात् इन दोनों की भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। बात यह है कि हम किसी भी स्मारक-निदर्शनीय राज-भवन या राज-प्रासाद को देखें तो हमें ये राज-पीठ शासनोपयिक एवं निवासोपयिक दोनों

मस्थात्रों के मिश्रण दिखाई देते हैं । राज स्थान के नाना राज भवन यही परम्परा पुष्ट करते है । मुगलो के राज भवन भी यही पोषण करते हैं। हम संस्कृत कवियो के काव्यो (कादम्बरी, हर्ष-चरित आदि आदि) का परिशीलन करें, तो उनमे भी राज-भवनो की द्विविधा निवेश प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जिस को हम वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अन्त शाला और बहि शाला के रूप मे परिकल्पित कर सकते हैं। मुगलो के राज-पीठो को देखिए उनमे भी दीवाने आम तथा दीवाने-खास भी इसी अन्त शाला और बहि शाला के अनुगामी थे।

यहां पर एक और भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर सकेत करना है। परा राज-भवन का श्रीगणेश दुर्गों (Fortresses) से प्रारम्भ हुआ था। इन दुर्गों मे सब से प्रमुख अग रक्षा-व्यवस्था-निवेश थे--जैसे महा-द्वार गोपुर-द्वार, पक्ष द्वार, अट्टालक, प्राकार परिखा, वप्र, कपिशीर्षक, काण्डवारिणी आदि आदि जो समरागण-सूत्रधार के इस राज-निवेश शीर्षक अध्याय मे भी इसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है । पुन कालान्तर पाकर जो राज-ऐश्वर्य तथा राज-भोग राज-शासन तथा राज-सभार विकसित हुए तो स्वत निवेशागो की सख्या भी बढती बढती इतनी बडी निवेश-सख्या हो गई ।

शास्त्रीय दृष्टि से अब हम राज-निवेश के यथानिर्दिष्ट प्रमुख अगो पर प्रकाश डालेंगे जिसमे राज निवेश मे प्रथम स्थान आवास-भवन है, पुन विलास भवन आते हैं। उस के बाद अनिवार्य उपकरण भवन यथा सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा राजानुजीवियो के आयतन-विशेष भी निर्देश्य हैं। इन सब पर हमे यहा विशेष प्रस्तार की आवश्यकता नही है, जो राज-निवेश-उपकरण शीर्षक--अनुवाद पटल म द्रष्टव्य है ।

यहा पर सबसे बडी शिल्पदिशा से जो वास्तु महिमा विवेच्य है, उसकी ओर अब हम कदम उठाते हैं ।

कक्ष्या-निवेश--अलिन्द-निवेश --शास्त्र एव कला दोनो दृष्टियो मे राज भवनो की प्रमुख विशेषता कक्ष्या निवेश है । मानसार आदि दाक्षिणात्य ग्रन्थों म तो अन्त शाला और बहि शाला के विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण सूत्रधार मे शालाओ एव अलिन्दो के ही विशेष विवरण राज-भवन विन्यास मे प्राप्त होते हैं। सौभाग्य से हम ने जब यह देखा कि प्राय प्रत्येक राज-भवन प्रभेद के प्रत्यक मे कम से कम चार अलिन्द अनिवार्य हैं तो जहा अलिन्द होंगे वहा खुले आगन अवश्य होगे । वृहत्सहिता म जो मुझे अलिन्द शब्द की निम्न

टीका –

'अलिन्दद्वारेन शालाभित्तेर्बहिर्च गमनिका जालकावृतागणसम्मुखा" मिली है, इसने पूरा का पूरा संदेह निराकरण कर दिया। अत समरागण-दिशा मे भी जो निदर्शन प्राप्त होते हैं उसका भी परिपोषण इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है।

राज भवन-वास्तु-तत्व —राज-प्रासाद व राज-भवन मर्गी दृष्टि मे चारो भवन-शैलियो (प्रासाद-वास्तु सभा वास्तु (मण्डप-वास्तु), शाला वास्तु तथा दुर्ग-वास्तु) के मिश्रण हैं। प्रासाद वास्तु का अनुगमन इसमे विशेषकर शृगो मे ही आभास प्राप्त होता है। समरागण की दिशा म आवास-भवन यत भट्टालकादि, प्राकारादि विशेषा से ही विशिष्ट हैं, परन्तु विलास-भवन यत भौमिक भी हैं अत उनमे शिखरावलिया एव शृग-भूषायें विशेष विभाव्य हैं। अब आइये सभा वास्तु की ओर। सभा-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-बहुलता है। विश्वकर्म वास्तुशास्त्र मे नाना सभाओ का जो वर्णन प्राप्त होता है उन मे विशेष महत्व स्तम्भ-सख्या का है। दक्षिण की ओर मूर्तिये वहा जो मण्डप वास्तु महान प्रकर्ष को पहुचा था उसम भी यही स्तम्भ-बाहुल्य-विशेषता है। वहा के मण्डपो की शत-मण्डप सहस्र-मण्डप इन सज्ञाओ का अर्थ स्तम्भ-सख्या का द्योतक है अर्थात सौ खम्भो वाले मण्डप या हजार खम्भो वाले मण्डप। किसी भी प्राचीन राज प्रासाद-निदर्शन का — मुगलो के अथवा राजस्थानियो के सभी म सभा-मण्डप आस्थान मण्डप आदि जितने भी वहा दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सभी मे स्तम्भ-बाहुल्य भी साक्षात प्रतीत होता है। तीसरा वास्तु-तत्व अर्थात शाला-वास्तु वह भी राज-भवन के मूल न्यास के प्रतिष्ठापक है। शाल भवनो की कहानी, शाला का अर्थ (अर्थात् कक्ष्या कमरा चेम्बर), शाल-भवन-विन्यास प्रक्रिया, द्रव्याद्रव्य-योजना योज्यायोज्य-व्यवस्था आदि आदि पर हम अपने भवन-निवेश म इस सम्बन्ध म बहुत कुछ कह चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति यहा आवश्यक नही। यहा तो केवल इतना ही सूच्य है कि इन राज-भवनो मे भी शालाए ही सर्वाधिक विन्यास के अग है। अब आइये चौथे तत्व पर जिस पर हम पहले ही कुछ निर्देश कर चुके है अर्थात् महाद्वार, गोपुरद्वार, पक्षद्वार अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र आदि।

इन वस्तु-तत्वो की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हमे दो महत्वपूर्ण वास्तु-तत्वो पर भी प्रकाश डालना है। पहला प्रश्न यह है अथवा पहली समस्या यह कि राज-भवन, देव-भवन के अग्रज है या अनुज हैं? इस

प्रश्न को हम यहा नही लेना चाहते, इसका उत्तर हम अन्तिम अध्ययन (प्रासाद निवेश) म देंगे। जब तक हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति, प्रसृति, शैली, निवश अगोपाग, भूषा तथा अ य निवश—इन सब का जब तक शास्त्रीय एव कलात्मक विवरण न प्रस्तुत किया जाय तो इस वैमत्य अथवा ऐकमत्य का समथन या खण्डन कैसे किया जा सकता है। अत यह प्रश्न वही पर विश्लेषणीय है।

अब आइये दूसरे प्रश्न पर, प्राचीन राज-भवनो मे जो वितान-वास्तु (Dome architecture) के त व एव निदश न मिलते हैं, वे हमारे शास्त्र और कला के निदशन है अथवा ये फारस की देन हैं? आधुनिक वास्तु कला-विशारदो ने भारत के वितान-वास्तु को फारस का श्रेय माना है। यह धारणा मेरी दृष्टि मे भ्रामक है। समरागण-सूत्रधार के राज-गृह-शीर्षक अध्याय मे राज गृह की नाना विच्छित्तिया पर जो प्रवचन प्रदान किय गये है उनमे नियूह, कपात पाली, सिंह-कण, तोरण, जालक आदि के साथ साथ वितान और लुमाओ पर भी बडे पथुल प्रतिपादन प्राप्त होते है। वितानो की सख्या पचीस है (दे० अनु०) और लुमाओ की विधा है सात (दे० अनु०)। अब वितान का क्या अर्थ है एव लुमा का क्या अथ है—यह समझने का प्रयास करें। लुमा पौष्पिक विच्छित्ति (Flower-like decorative motif) है जो वितान (Canopy) का अभिन्न अग है। लुमा और लुपा शिल्प दष्टि से एक ही हैं। दाक्षिणात्य ग्रन्थों (दे० मानसार) म लुमा के स्थान पर लुपा का प्रयोग है। रामराज ने जो लुपा की व्याख्या दी है वह हमारे इस तथ्य का पोषण करती है। यह व्याख्या उद्धरणीय है —

'A sloping and projecting member of the entablature etc representing a continued pent roof It is made below the cupola and its ends are placed as it were, suspended from the architrave and reaching the slab of the lotus below'

इस दष्टि से य लुमाए (पौष्पिक विच्छित्तिया) वितान (dome) की अभिन्न अग हैं। रामराज की परिभाषा ने लुमाओ को वितान (dome) के गोद म क्रीडा करवा दी है। अत वितान-वास्तु (Dome Architecture) हमारे देश की ही विभूति है। अपराजित-पृच्छा मे भी जो लुमाओ और वितानो के विवरण प्राप्त होते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को दढ करते हैं। मानकद ऐसे आधुनिक प्रथित-कीर्ति इजीनियर, जिन्होने अपराजित-पृच्छा की भूमिका लिखी है, उस म जो उन्होने अपना मत दिया है वह भी हमारी धारणा का समथन करती

यद्यपि वे कुछ विशेष इस सम्बन्ध मे मुखर नही हैं।

अब अन्त मे जहा तक स्मारक-निदर्शनो का प्रश्न है, उनको अब हम यहा पर विशेष-विस्तार से नही छेड़ना चाहते हैं, यत यह शास्त्रीय अध्ययन है। सुदूर अतीत मे निर्मित अशोक का राज-प्रासाद जो काष्ठमय था वह भी सभा-वास्तु का प्रथम निदर्शन है। साथ ही साथ इस स्तम्भो की विच्छित्तिया आगे चलकर प्रासाद-स्थापत्य जैसे आमलक एव गुप्त-कालीन-विच्छित्तियो यथा घट-पल्लव आदि सभी के प्रारम्भक है। सकप-नामक प्राचीन नगरी के भग्नावशेषो मे, अमरावती तथा अजन्ता के स्मारको मे गुप्तकालीन राज-भवनो के निदर्शनो मे—य सब वास्तु-तत्व प्रत्यक्ष दिखाई पडते हैं।

आगे चलकर मध्यकालीन राज-भवनो की अभिरया देखें एव सुषमा निहारें तो इन राज-गहो मे बडे विस्तार सभार प्राप्त होते है। विशेषकर उत्तर-मध्यकाल मे राजपूताना बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रदेश मे जो राज-भवन बनें जैसे—धारा और ग्वालियर एव दतिया और ओरछा अम्बेर तथा उदयपुर एव जोधपुर और जयपुर आदि इन नगरो मे जो राज-भवन-निदर्शन प्राप्त होते हैं वे सब राज भवनो की एक परम्परागत अटूट शैली एव श्रणी के उद्बोधक हैं। जहा तक राज भवन-वर्गों की बात है वह अनुवाद मे द्रष्टव्य है। राज भवन प्रधानतया द्विविध हैं निवास-भवन तथा विलास-भवन। दोनो के नाना पारिभाषिक भेद है जैसे पृथ्वीजय आदि व सब वही पठनीय हैं। इस थोडी सी समीक्षा के उपरान्त समरागण के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से थोडा सा राज-निवेश-उपकरणो पर भी सकेत आवश्यक है।

राज-निवेश-उपकरण —इस ग्रन्थ में सभा गज-शाला अश्व-शाला तथा आयतन (अर्थात राजानुजीवियो के घर जो राज-भवन से न्यून प्रमाण मे विनिर्मेय हैं,) ही विशेष उल्लेख्य हैं। जहा तक सभा गजशाला का प्रश्न है उनके विवरण अनुवाद मे ही दृष्टव्य हैं, परन्तु अश्व-शाला के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि किसी भी वास्तु या शिल्प ग्रन्थ मे इतना वैज्ञानिक, पारिभाषिक एव पृथुल प्रतिपादन नही प्राप्त होता। इस अध्याय मे कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जिनका अर्थ बडे ऊहापोह के बाद लग सका। उदाहरण के लिए लीजिए 'स्थानानि' इसका अर्थ स्थान है। परन्तु उत्तर प्रदेश के किसी पुर, पत्तन ग्राम मे जाइये तो वहा पर जहा घोडे बाधे जाते हैं, उनको थाना कहते हैं और वे थाने बडे विशाल एव विस्तृत बनाए जाते थे। अत वास्तु-दृष्टि से यह पद (स्थान) थाना का पूर्ण परिचायक है। जिस

प्रकार अभी तक बेसर अथवा अण्डक अथवा अन्य अनेक वास्तु-पदो के जो अ अज्ञेय थे, उनको मैंने महामाया की कृपा से ज्ञय बना दिया। भवन-निवेश क चय' शीर्षक अध्याय को देखें, वहा पर 'चय', 'छद्यक' आदि नाना पदो की जो व्याख्या दी है, उससे हमारा यह वास्तु-शास्त्र कैसा पारिभाषिक शास्त्र म परिणत हो गया है। अभी तक आधुनिक विद्वानो ने इन वास्तु-शास्त्रीय प्रथा को पौराणिक अथवा कपोल-कल्पित अथवा मनघड़ंत के रूप मे मूल्याकन करते आए हैं। अस्तु अश्वशाला के भी विवरण वही अनुवाद मे अवलोक्य है। हा यहा पर थोडा सा सभा तथा अश्वशाला के प्रमुख निवेशागो पर थोड़ा सा प्रकाश आवश्यक है।

सभा —सभा भवन-वास्तु की सब प्राचीन कृति है। वैदिक वाङमय तथा विशेष कर महाभारत एव रामायण मे सभाओ के अनेक उल्लेख एव विवरण मिलते है। महाभारत मे तो एक पर्व सभा पर्व के नाम से प्रथित है। जिसमे यम-सभा, इन्द्र सभा वरुण-सभा, कुबेर-सभा, ब्रह्म सभा आदि प्रकीर्तित है। इन सभा-भवनो की विशेषता वैदिक काल से लेकर आज तक स्तम्भ बाहुल्य वास्तु वैशिष्ट्य है। राज-भवनो मे जो अन्त शाला एव बहि शाला हैं वे भी सभा भवन पर बनी हैं तथा वैसी ही विच्छित्तिया दर्शनीय है। अनुवाद भी यही समर्थन करता है।

अश्वशाला – अब आइये अश्व शाला की ओर, जिसमे निम्नलिखित निवेशो का प्रतिपादन आवश्यक है —

१ अश्वशाला-निवेश अगोपाग सहित,
२ अश्वशालीय सभार,
३ घोडो के बाधने की प्रक्रिया एव पद्धति,
४ अश्वशाला के उप-भवन (Accessory Chambers)

अश्व-शाला-निवेश अनुवाद मे दृष्टव्य है, परन्तु इसके प्रमुख निवेशाग निम्न हैं

१ यवस स्थान (Granary) जहा पर घास जमा की जाती है;
२ खादन-कोष्ठक (Manager) अर्थात् नाँद,
३ कीलक अर्थात खूंटे जिनके द्वारा उनका पञ्चागी-निग्रह अनिवाय है।

इन सब निवेशो के विवरण-प्रमाण, आयाम, उचित-स्थान सब अनुवाद मे द्रष्टव्य है।

४ अश्वशालीय सभार—अग्नि स्थान, जल स्थान, ऊलूखल निवेश स्थान आदि के अतिरिक्त जो सम्भार अभिधाय है उनमे नि श्रेणी (Stai-case) कुश,

फलक, उद्दालक, गुडक, शुक्त-योग, खुर, कची, सीग, कुल्हाडी, नाद्य, प्रदीप हस्तवासी, शिला दर्वी, थाल, उपानह पिटक तथा नाना वस्तियां—ये सब अनिवार्य सभार है ।

घोडो के बांधने की प्रक्रिया एवं पद्धति थाने (स्थानानि) इस पद पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। रघुवंश (पाचवा सर्ग) देखिए 'दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु' इन स्थानो—थानो का समर्थन करता है। इन थानो का सामुख्य, स्थापन, दिङ-सामुख्य निवेश्य पद आदि पर जो विवरण आवश्यक है वे सब वही अनुवाद मे द्रष्टव्य है।

अश्वशाला के उप-भवन—भेषजागार या औषधि-स्थान (Medical Home)—इसके लिए निम्नलिखित चार उप-भवन (Accessory Chambers) अनिवार्य विवेश्य है —

१ भेषजागार (Dispensary)
२ अरिष्ट-मन्दिर (The lying-in-Chamber)
३ व्याधित—भवन (The hospital and sick-ward)
४ सर्वसम्भार—वेश्म (Medical Stores)

यहा पर सब प्रकार की औषधिया तल, नमक, धनिया आदि आदि सग्रहणीय है।

इन अश्व-शालाओ के निर्माण म वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से इन्हे विशाल बनाना चाहिए तथा इनकी दीवालो को सुधा व ध से दृढ करना चाहिए और इनमे प्राग्रीवो की अलकृति भी आवश्यक है। इससे इन अश्व शालाओ के द्वार उत्तु ग एव अलकृत दिखाई पडते है।

शयनासन

वास्तु की व्युत्पत्ति वस्तु पर निर्धारित है। वस्तु है भूमि वास्तु हुआ भौम या भौमिक। जो भी पार्थिव पदार्थ या द्रव्य है उसको जब किसी भी क्रिया से किसी भी कृति मे हम परिणत कर देते है तो वह वास्तु बन जाता है। समरागण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इसी तथ्य एव सिद्धान्त को दृढ करता है —

'यच्च येन भवेद् द्रव्य मेय तदपि कथ्यते—'मेय मे वास्तु के मान का महत्व-पूर्ण स्थान विहित है। बिना प्रमाण कोई भी वास्तु निश्चित कृति मे नहीं परिणत हो पाता। अतएव भारतीय वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र बडा ही व्यापक है। वह सार्वभौमिक तो है ही साथ ही साथ आधिदैविक एव

आधिभौतिक भी है । वास्तु से तात्पय केवल पुर, नगर भवन, मंदिर या प्रतिमा मात्र से नहीं । जो भी निवसित है, जो भी मानित है वह सब वास्तु है। इस व्यापक दिशा मे तक्षण दारुकर्म आलेख्य-कर्म आदि भी गतार्थ हैं ।

स० सू० का यह शयनासन शीर्षक अध्याय बडा ही वैज्ञानिक, पारिभाषिक एव अनुपम है । अन्य किसी ग्रन्थ म ऐसा पृथुल एव प्रवृद्ध शयनासन विषयक प्रतिपादन नहीं मिलता । मानसार मयमत आदि शिल्प ग्रन्थो म वास्तु-भेद मे धरा यान, स्यन्दन (अथवा पर्यक) तथा आसन य हो चतुर्धा क्षेत्र ह तथापि इन ग्रन्थो मे यद्यपि सिंहासनादि एव अन्य पजर तथा नीडादि दोलादि दीप-दण्डादि नाना फर्नीचर के भी विवरण है तथापि वहा शय्या पर इतने वैज्ञानिक एव परिमार्जित विवरण नही मिलत ।

शय्या अथवा आसन आदि इन विधानो क लिये सव प्रथम शुभ लग्न शुभ मुहूत आवश्यक है । इन शय्याओ एव आसनो के निर्माण मे किस किस वृक्ष की लकड़ी लानी चाहिए—य विस्तार बडे पृथुल है (दे० अनुवाद) । राजो, महाराजो के लिए जो शय्या विहित है उसम स्वण रजत हस्तिदन्त आदि की जडावट आवश्यक है । शय्या की लम्बाई और चौडाई भी व्यक्ति-विशेष क अनुरूप विहित है । राजाओ की शय्या १०८ अगुल क प्रमाण म बतायी गया है चौडाई से दुगुनी सदैव लम्बाई होनी चाहिए ।

एक-दारू-घटिता शय्या प्रशस्त मानी गयी ह । द्वि-दारू-घटिता शय्या अनिष्ट बतायी गयी है । तथा त्रिदारु-घटिमा शय्या तो शयालु की तात्कालिक मरण बताती है —

'त्रिदारुघटितायां तु शय्यायां नियतो वध

शय्याओ मे जो पारिभाषिक वास्तु पद दिये गय हैं व हैं—उत्पल, ईशा-दण्ड कुष्य तथा पाद । सबसे बडी विशेषता यह है कि घटिता शय्या मे ग्रंथियां कभी नहीं होनी चाहियें । ग्रंथियां अथवा छिद्र दोनो ही वर्ज्य हैं । ग्रंथियों की निम्न षडविधा दृष्टव्य है —

निष्कुट	क्रोडनयन	कालक
कालदक्	वत्सनाभक	बन्धक

इन सबके विवरण अनुवाद मे अवलोकनीय है । अत यहा पर इतना सूच्य है कि शय्या कैसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से बनती थी । इसी प्रकार आसन, पादुका, कघे आदि भी इस शयनासन-विधान मे वर्णित किये गये हैं । अब आइये यन्त्र-विधान (यन्त्र-कला अर्थात् Mechanics) की ओर ।

राज-विलास
(नाना यन्त्र)

यन्त्र-घटना—महाकवि कालिदास के महाकाव्य (देखिए रघुवंश) में पुष्पक-विमान का जो उल्लेख है उसी प्रकार से पुराणों में बहुत से संकेत प्राप्त होते हैं उनसे जो यह परम्परा विमानों की ओर संकेत करती है, वह अभी तक कपोल कल्पना के रूप में कवलित की गई है। यन्त्र शब्द तन्त्र के समान ही बड़ा ही प्राचीन है। मेरी दृष्टि में तन्त्र वास्तव में शास्त्र अथवा पारिभाषिक शास्त्र की संज्ञा थी और यन्त्र एक प्रकार से पारिभाषिक कला थी। जो यन्त्र वही मशीन। मानव सब कुछ अपने हाथों से नहीं कर सकता था अतएव प्रत्येक जाति एवं देश की सभ्यता में यन्त्रों का जन्म एवं विकास प्रादुर्भूत हुआ। वात्स्यायन के काम सूत्र में जिन ६४ कलाओं का विलास वर्णित किया गया है उनमें यन्त्र मातृका भी तो थी। आज तक कोई भी विद्वान इस कला की परिभाषा न दे सका न समझ ही सका। डा० आचार्य ने अपने ग्रन्थ में (H A I A) जिन्होंने इस कला की निम्न व्याख्या की है —

"the art of making monographs logographs and diagrams Yasodhara attributes this to Visvakarma and calls Chatana sastra (Science of accidents)

अर्थात् जिस दृष्टि से अज्ञात् यशोधर की व्याख्या से आदरणीय डा० आचार्य जिस निष्कर्ष को पहुँचे हैं वह सर्वथा भ्रान्त है। इस काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर की इसी व्याख्या से ही मैंने इस कला को वास्तविक रूप में ला दिया है। यशोधर ने इस कला की व्याख्या में लिखा है —

"सजीवानां निर्जीवानां यानोदकसङ्ग्रामार्थघटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यान से तात्पर्य विमानादि (Conveyance and aeroplanes) यन्त्रों से है उदक से तात्पर्य धारा तथा अन्य जलीय यन्त्रों से है तथा संग्राम से अर्थ संग्रामार्थ यन्त्रों से है जिनकी परम्परा वैदिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक सभी युगों में पूर्ण रूप से प्रवृत्त थी—जैसे आग्नेयास्त्र (Fire Omitter), इन्द्रास्त्र (Anti-Agneya Rain-producer), वारुणास्त्र (Producing terrible end violent storms)। इसी प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भुशुंडी, शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी जो आजकल आधुनिक मशीनगन, स्टेनगन और टैंकों के साथ प्रकल्पित किये

जा सकते है। प्रश्न यह निस्सन्देह है, जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, न्य दृष्टि से यह निरूप कि हम लोग यान्त्रिक-कला एवं यन्त्र-विज्ञान से सर्वथा शून्य थे, अपरिचित थे—यह धारणा निराधार है। अब देखें कि समरांगण सूत्रधार का यह यन्त्राध्याय किस प्रकार से इस भ्रान्त धारणा को उन्मूलन कर देता है। इस के प्रथम थोड़ा सा और उपोद्घात आवश्यक है।

हम बहुत बार पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं कि जहां वेद थे वहां उपवेद भी थे। उपवेद ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों के जन्मदाता एवं प्रतिष्ठापक थे। यन्त्र-विद्या धनुर्विद्या की अभिन्न अंग थी। धनुर्विद्या धनुर्वेद के नाम से हम कीर्तित कर सकते है क्योंकि जिस प्रकार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, उसी प्रकार से यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) था। धनु शस्त्रों एवं अस्त्रों का प्रतीक था। शस्त्र हमारे वाङमय मे चतुर्विध वर्गीकृत किये गये हैं —

१ मुक्त	२ मुक्तामुक्त तथा
३ अमुक्त	४ यन्त्र-मुक्त

उपर्युक्त शतघ्नी सहस्त्रघ्नी, चाप आदि सब यन्त्र-मुक्त शस्त्रास्त्र बोधव्य हैं। डा० राघवन ने अपने Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India नामक पुस्तक मे संस्कृत-वाङ्मय में आपतित यन्त्र सन्दर्भों पर पूरा प्रकाश डाला है। परन्तु उनकी दृष्टि मे यन्त्र की व्याख्या उन्होंने यन्त्र-विज्ञान न मान कर यन्त्र-घटना अथवा गढ़न के रूप में परिकल्पित किया है। परन्तु समरांगण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के नाना प्रवचनों से यन्त्र विज्ञान की ओर पूर्ण प्रकाश पडता है। अतः बिना dogmatic approach के हम आगे वैज्ञानिक ढंग से कुछ न कुछ इस तथ्य का पोषण अवश्य कर सकेंगे कि हमारे देश मे यन्त्र-विद्या (यन्त्र-विज्ञान) भी काफी प्रवृद्ध थी, जो महाभारत के समय की बात थी, परन्तु पूर्व एवं उत्तर मध्य काल में इसका ह्रास हो गया। अतएव समरांगण सूत्रधार के अतिरिक्त इसी के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव के द्वारा ही विरचित कोदण्ड मण्डन इन दो ग्रन्थों को छोड़कर अन्य ग्रन्थ एतद्विषयक प्राप्त नहीं हैं। अतएव यन्त्र विद्या तथा यन्त्र-विज्ञान को आधुनिक दृष्टि से हम पूरी तरह नहीं ला सकते। यही कारण है कि डा० राघवन ने Mechanical Contrivances इस शीर्षक से यन्त्रों की ओर गये। अन्यथा Science लिखना विशेष उपयुक्त था। समझने की बात है, विचारने की भी बात है कि कुतुब-मीनार के निकटस्थ

अशोक का लौह-स्तम्भ किस यन्त्र के द्वारा आरोपित किया गया था और कैसे बना था—केवल यही ऐतिहासिक निदर्शन हमारे लिये पर्याप्त है कि हमारे देश में यान्त्रिक एवं इञ्जीनियरिंग कौशल किसी देश से पीछे नहीं था। समरांगण-सूत्रधार (मूल ३१ ८७, परिमार्जित संस्करण ४६ ८७) का निम्न प्रवचन पढ़ें —

पारम्पर्यं कौशलं सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धीः ।
सामग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिंश्चित्राण्येवं वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम् ॥
यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद हम इस स्तम्भ में यन्त्र विज्ञान उसके गुण प्रकार एवं विधा को एक एक करके विचार करेंगे जिससे पाठक इस उपोद्घात का मूल्यांकन कर सकने में समर्थ हो सकेंगे। अनुवाद भी पढ़कर कुछ विशेष आश्चर्य का अनुभव कर सकेंगे कि हमारे देश में यह विज्ञान सर्वथा प्रवर्ध था।

यन्त्र परिभाषा देखिए अनुवाद
यन्त्र-बीज देखिए अनुवाद
यन्त्र-प्रकार देखिए अनुवाद
यन्त्र-गुण देखिए अनुवाद

यहां पर अनुवाद-स्तम्भ की ओर तो ध्यान आकर्षित कर ही दिया परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यन्त्र-परिभाषा एवं यन्त्र-बीज पर जो लिखा गया है वह कितना वैज्ञानिक है इससे अधिक और क्या वैज्ञानिक परिभाषा एवं वैज्ञानिक बीज (Elements) निर्धारित किये जा सकते हैं। प्रकारों पर जो प्रकाश डाला गया है—जैसे स्वयंवाहक (automatic) सकृत्प्रेर्य (Requiring propelling only once), अन्तरित बाह्य (operation of which is concealed, i e the principle of its action and its motor mechanism are hidden from public view) तथा अदूर-बाह्य (the apparatus of which is placed quite distant)—यह सब कितना वैज्ञानिक एवं विकसित सा प्रतीत होता है। साथ ही साथ शायद ही आज के युग में भी यन्त्र-गुणों की बीस प्रकल्पताओं पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ में डाला गया है, वह सम्भवतः कहीं पर भी प्राप्य नहीं है। यन्त्र-गुणों की तालिका सुसम्बद्धा यहां पर अतएव अवतरणीय है —

१ यथावद्बीज-संयोग (Proper combination of Bijas in proportion),

२ सौश्लिष्ट्य Attribute of being well-knit construction
३ श्लक्ष्णता Smoothness and fineness of appearance
४ अलक्ष्यता Invisibleness or inscrutability
५ निर्वहण Functional Efficiency
६ लघुत्व Lightness
७ शब्द हीनता Absence of noise where not so desired
८ शब्दाधिक्य Loud noise if the production aimed at, is sound
९ अशैथिल्य Absence of Looseness
१० अगाढता Absence of stiffness
११ सम्यक्-सञ्चरण Smooth and unhampered motion in all conveyances
१२ यथाभीष्टार्थकारित्व Fulfilling the desired end i e production of the intended effects (in cases where the ware is of the category of curos)
१३ लयताल-अनुगामित्व Following the beating of time the rhythmic attributes in motion (particularly in entertainment wares)
१४ इष्टकाल प्रदर्शित्व Going into action when required
१५ पुन सम्यक्त्व-संवृति Resumption on the still state when so required
१६ अनुल्बणत्व Beauty i e absence of an uncouth appearance
१७ ताद्रूप्य Versimilitude (in the case of bodies intended to represent birds and animals)
१८ दार्ढ्य Firmness
१९ मसृणता Softness
२० चिर-काल-महत्व Endurance

यन्त्र-कार्य —देखिए अनुवाद।

यन्त्र-क्रम मे जो गमन, सरण पात, पतन, काल शब्द, वादित्र आदि आ इस ग्रन्थ मे निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमे आधुनिक नाना मशीनो जैसे घड़िया, रेल मोटर रेडियो, वारि तथा विमान (aeroplane) सभी प्रकल्प्य प्रतीत होते हैं।

आधार-भौतिक क्रिया-कौशल की दृष्टि मे प्रथम तो क्रिया ही मौलिमालायमान एव मूर्धन्य है जिस से गमन, पतन, पात, सरण आदि विभ य है।

जहा तक काल का प्रश्न है, उससे आधुनिक घडियो की ओर सकेत है—यह तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्ट कर सकते है कि उस प्राचीन एव मध्यकालीन युग मे जल-घडिया तथा काष्ठ-घडिया तो विद्यमान थीं ही।

जहा तक शब्द-विद्या का प्रश्न है वह आधुनिक वाद्य-यन्त्र की ओर सकेत कर रही है, क्योकि वादित्र—गीत, वाद्य एव नृत्य के साथ जो अ य नाना बाजा जसे पटह मुरज वश वीणा कारयनाल तमिला करनाल और नाटक, ताण्डव, लास्य, राजमाग देशी आदि नत्या एव नाट्या की ओर जो सकेत है वे क्या तत्कालीन आधुनिक रेडियो की ओर सकेत अथवा मूल भित्ति (Foundation) की ओर हमे नही ले जा सकते अ यथा यन्त्रो के द्वारा इनकी निष्पत्ति, प्रादुभाव या आविर्भाव की ओर व्याख्यान करने का क्या अभिप्राय है ?

यन्त्र-कर्मो म उच्छ्राय-पात सम-पात समोच्छ्राय एव अनेक उच्छ्राय-प्रकारो पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ-रत्न मे प्राप्त होता है उससे महावैज्ञानिक वारि-यन्त्रा तथा धारा-यन्त्रो की पूरी पूरी पुष्टि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार नाना-विध यन्त्रा के कर्मो पर भी प्रकाश डाला गया है—जैसे रूप, स्पश तथा दोला एव क्रीडाये एव कौतुक एव आमोद। सेवा (Service) रक्षा (defence) आदि काय भी इन्ही यन्त्रो के द्वारा उल्लेख किये गये है। यह आगे के स्तम्भ यन्त्र-प्रकार से स्वत परिपुष्ट हो जाता है।

यान-मातका की परिभाषा की हमने जो वैज्ञानिक व्याख्या सव प्रथम इस भारत-भारती (Indology) म पाठका के सामन रक्खी ह उसी के अनुसार यह समरागण–सूत्रधार भी उसी ओर हम ले जा रहा है। समरागण सूत्रधार के इस य त्राध्याय म जो नाना यन्त्र वर्णित किये गये है उनका हमने निम्न षड विधा मे वर्गीकृत किया है —

१ **आमोद-यन्त्र** —इस वग मे

(i) भूमिका गग्या प्रसपण

(ii) क्षीराब्धि-शय्या

(iii) पुत्रिका नाडी प्रबोधन

(iv) नारिका प्रबोधन य त्र

(v) गाल भ्रमण-यन्त्र Chronometre-like-object

(vi) नर्तकी-पुत्रिका Dancing Doll

(vii) हस्ति-यन्त्र

(viii) शुक-यन्त्र

२ सेवा एव रक्षा-यन्त्र —

(i) सेवक-यन्त्र

(ii) सेविका-यन्त्र

(iii) द्वार-पाल-यन्त्र

(iv) योध-यन्त्र

(v) सिंहनाद-यन्त्र

३ सग्राम के यन्त्र —इन क केवल सकेत हैं परन्तु घटना पर प्रकाश नही डाला गया है । इनमे चाप, शतघ्नी, उष्ट्र-ग्रीवा आदि सग्राम-यन्त्र ही सूचित हैं।

४ यान-यन्त्र —अम्बरचारि-विमान-यन्त्र को हम अन्त म परिपुष्ट करेंगे ।

५ वारि-यन्त्र —इसम जसा पीछे सकेत किया जा चुका है उसकी चतुर्धा कोटि है —

(i) पात-यन्त्र

(ii) उच्छ्राय-यन्त्र

(iii) पात समोच्छ्राय-यन्त्र

(vi) उच्छ्राय यन्त्र

इन चारो का मौलिक उद्देश्य द्विविध है -

एक तो क्रीडार्थ दूसरा काय-सिद्धचय । दूसरी कोटि पात यन्त्र की प्रतीक है और पहली कोटि दूसरी, तीसरी, चौथी से उदाहृत एव समर्थित है । इन चारो विधाओं की विशेषता यह है कि पहले से अर्थात् पात यन्त्र से ऊपर एकत्रित किए गए जलशाय से नीचे की ओर पानी छोडा जाता है । दूसरा यथानाम (उच्छ्राय-समपातयन्त्र) जहा पर जल और जलाशय दोनो एक ही स्तर पर रखकर जल छोडे जाते हैं । तीसरी विधा पात समोच्छ्राय-यन्त्र का वैशिष्ट्य यह है कि इसमे एक बडी मनोरञ्जक तथा उपादेय प्रक्रिया तथा पद्धति का आलम्बन किया जाता है जो गडे हुए खम्भो (Bored Columns) के द्वारा ऊँचे स्तर से नीचे की ओर पानी इन्ही खम्भा के द्वारा लाया जाता है जो हम आधुनिक टकियो मे भी वसा ही देखत हैं । चौथी विधा को हम आधुनिक Boring के रूप मे विभाजित कर सकते हैं ।

समराग णके इस यन्त्राध्याय मे इन चारो बारि-यन्त्रो के अतिरिक्त और भी वारि-यन्त्र सकेतित किए गए हैं जैसे दारूमय-हस्ति-यन्त्र जिसमे कितना वह पानी पी रहा है कितना छोड रहा है—यह दिखाई नही पडता। उसी प्रकार फौहारो underground conduit) का भी इन विवरणो से ऐसे निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की विख्यात नगरी चडीगढ के समीप एक अति प्रख्यात तथा अत्यन्त अनुपम जो मुगल—कालीन विलास-भवन पिञ्जौर उद्यान के नाम से यहा पर पर्यटको का आकर्षक केन्द्र है, वहा पर इस प्रकार के वारि एव धारा यन्त्रो की सुषुमा देखें तो हमारे प्राचीन स्थापत्य-कौशल का पूर्ण परिपाक इस निदर्शना से भी पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई पडता है।

६ धारा-यन्त्र—हम बारि-यन्त्रो के साथ इन धारा-यन्त्रो को नही लाए। धारा गृह स० सू० के इस यन्त्राध्याय मे बडे ही विवरणो एव प्रकारो म प्रतिपादित हैं। वे विवरण इतने मनोरजक, पारिभाषिक तथा पृथुल हैं जिनको हम पूर्ण स्थापत्य का विलास मानत हे। स्थपति की चार श्रेणीया है —

१ स्थपति २ सूत्रग्राही

३ वद्ध कि तथा ४ तक्षक

धारा-यन्त्रो के निर्माण मे इन चारो का कौशल एव विलास दिखाई पडता है। धारा गहा क निम्न पाच वग प्रतिपादित किए गए हैं —

१ धारा गृह
२ प्रवर्षण
३ प्रणाल
४ जलमग्न
५ नन्द्यावर्त ।

धारा-गृह—एक प्रकार से उद्यान क Shower Bower के रूप मे विभावित कर सकते है। इस प्रकार का धारा-गृह मध्यकालीन युग मे सभी राज-भवनो—आवास-भवनो एव विलास-भवनो के अनिवार्य अग थे। यह धारा-गृह पौर्वात्य एव पाश्चात्य दोनो सस्कृतियो के प्रोल्लास माने गए हैं। जिस प्रकार वितान-वास्तु (Dome Architecture) को जो नवीन दृष्टि से समीक्षा की है और यह धारणा कि यह वास्तु-तत्त्व फार्म्स की देन है, वह कितनी भ्रामक धारणा है उसको स० सू० के वितान और लुमा वास्तु-शिल्प के द्वारा जो निराकरण किया वह पीछे द्रष्टव्य है, उसी प्रकार जिन विद्वानों की यह धारणा है कि ऐसे धारा-गृहों का मुगलो ने यहा पर श्रीगणेश किया था, वह भी अत्यन्त

भात है। यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी का अधिकृत ग्रन्थ है, जिसमे धारा गृहो क नाना प्रकार एव स्थापत्य-कौशल के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं उससे यह धारणा अपने आप निराकृत हो सकती है । मध्यकालीन स्मारको म कोई भी ऐसा धारा-यन्त्र इस देश म नही प्राप्त होता है जो मुगलो से पूव बना हो। अस्तु तथापि संस्कृत क विभिन्न प्राचीन काव्यो को देखें—कालिदास, भारवि, माघ सोमदेव-सूरि, जिनके काव्यो मे इन धारा-यन्त्रो के बडे आकर्षक और महत्वपूर्ण सदभ प्राप्त होते हैं । कालिदास के मेघदूत की निम्न पक्ति पढ़ें –

' नेष्यन्ति त्वा सुरयुवतयो यत्रधारागृहत्वम् '

सोमदेव-सूरि के टीकाकार इन धारा-गृहो मे जो हमने एक प्रवर्षण की विधा दी है, इसको "कृत्रिम-मेघमन्दिरम्" नाम से प्रकीर्तित किया है । इस ग्रन्थ मे भी इस विधा को "अनुरक्तणमक जलमुचाम" क नाम से स्वय प्रतिपादित किया है । धारा गृह को हम उद्यान की शोभा के रूप म पहले ही कीर्तित कर चुके हैं। प्रवर्षण पर भी थोडा सा सकत ऊपर कर चुके हैं। तीसरा प्रकार प्रणाल के नाम से विश्रुत है जो एक दुतल्ला धारा गृह बनाया जाता है, जिसम एक अथवा चार अथवा आठ अथवा सोलह खम्भ बनाए जाते हैं तो पुष्पक-विमान के रूप म निर्मित होता है। इस धारा-गृह क केन्द्र मे जलाशय का निर्माण होना है, जिसम एक पद्माकृति पीठ बनाया जाता है। वही पर राजा के बैठने की जगह बनाई जाती है और चारो ओर सुन्दर युवतियो की प्रतिमाए बनाई जाती है, जिनकी आखें इस पद्म को देखती हुई दिखाई जाती हैं। ज्यो ही ऊपर का जलाशय पानी स भर दिया जाता है और बन्द कर दिया जाता है त्यो ही इन प्रतिमा-चित्रो स पानी निकलने लगता है और एक महान मनमोहक वातावरण उत्पन्न होता है और इस प्रकार से वहा पर राजा बैठा हुआ जल से भीगता हुआ आनन्द लेता है।

जलमग्न यथानाम जलाशय के भीतर वरुण अथवा नागराज के प्रासाद के समान यह प्रासाद विभाव्य है। यह एक प्रकार का अन्तपुर है। यहा पर केवल थोडे से ही प्रधान पुरुष जैसे राजकुमार, राजदूत यहा पर आ सकते हैं। पाचवी कोटि नन्द्यावर्त की है जिसके निर्माण मे स्थापत्य एव चित्र-कौशल भी अनिवार्य हैं, क्योकि यह धारा गृह नन्द्यावर्त स्वस्तिक आदि विच्छित्तियो से अलङ्कृत होना आवश्यक है। यह आख-मिचौनी के लिए बडा उपादेय माना

क्षय वृद्धि है। बिना इस क्षय-वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण विन्यास वर्णोज्ज्वलता एवं वर्णिक वैशिष्ट्य सम्पन्न नहीं होता। चित्र-कौशल में शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढ़ियां (Conventions) प्रदान की हैं उनके बिना चित्र दर्शन मात्र से उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा में चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमें स्थावर और जंगम सभी पदार्थ सम्मिलित हैं तो इनके रूप उनके कार्य, उनकी चेष्टाएं तथा उनकी क्रियाएं अथवा उनका प्राकृतिक सौंदर्य एवं याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है जब तक हम इन रूढ़ियों (Conventions) का सहारा न लें। चित्र कौशल का अन्तिम प्रकर्ष भावाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें एकमात्र समरांगण-सूत्रधार ही है जिसमें चित्र के रसों एवं चित्र की दृष्टियों का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढ़कर हमारे देश में इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति शृंगारिक अर्थात् काव्य-तत्व-वेत्ता (Aesthetician) नहीं हुआ है। जहां उसने शृंगार-प्रकाश की रचना की वहां उसने वास्तु के ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरांगण सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद में खेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार से इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विष्णु धर्मोत्तर से भी आगे बढ़ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु महापुराण के परिशिष्टांग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र सूत्र को देखें तथा परिशीलन करें तो वहां पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है —

> विना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता॥
> दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः।
> कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम॥
> त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्॥

यद्यपि इस अवतरण में नाट्य-हस्त, नृत्य-हस्तों के साथ दृष्टियों का भी संकेत अवश्य है परन्तु उसमें प्रतिपादन नहीं। अतः इस कमी को समरांगण सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ में चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टियां प्रतिपादित की गयी हैं जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण में चित्रकला को नाट्य और काव्य से और ऊपर उठाकर रस-सिद्धान्त एवं ध्वनि-सिद्धान्त में लाकर परिणत कर दिया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश में काव्य की त्रिविधा से जो चित्र-काव्य को तीसरी कोटि दी गयी है, उसका आशय एक मात्र व्यंग्याभाव एवं शब्द-चित्रता तथा अर्थ-चित्रता से ही तात्पर्य नहीं है, उसमें इस इस शब्द के प्रयोग में एक बड़ा मर्म भी छिपा है। मेरी दृष्टि में जिस प्रकार काव्य में शब्दों एवं अर्थों के द्वारा व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि व्यंजना के लिए व्यंजक की आवश्यकता है तो क्या व्यंजक व्यंग्य की ओर सहृदयों को नहीं ले जा सकते। जिस प्रकार कोई युवती अतिरमणीय होते हुए यदि वह नाना शृंगारों से सुसज्जित, नाना विलासों से मण्डित अनेक चर्याओं में विलसित क्या वह कई व्यंग्यों की ओर इशारा नहीं कर सकती? किसी कुशल चित्रकार के चित्र को देखें, उसमें कितने व्यंग्य छिपे हैं जो एकमात्र वर्णों एवं आकारों तथा कुछ बन्धनों (Back grounds) के साथ साथ अन्य नाना कितने आकृत अपने आप आपतित हो जाते हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के अनन्तर हम अपने इस अध्ययन में अध्ययन की रूपरेखा की कुछ अवतारणा अवश्य करनी है जो निम्न तालिका से द्रष्टव्य है —

१ चित्र शास्त्रीय ग्रन्थ,
२ चित्र-कला का ललित कलाओं में स्थान, उद्देश्य, जन्म और विस्तार,
३ चित्रांग (Elements-Constituents and Types),
४ वर्तिका तथा भूमि व घन,
५ अण्डक-प्रमाण,
६ लेप्य-कर्म,
७ आलेख्य—क्रम-वर्ण एवं रूचक, कान्ति एवं विच्छित्ति तथा क्षय-वृद्धि सिद्धान्त,
८ आलेख्य-रूढ़ियां (Conventions),
९ चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि एवं रसास्वाद,
१० चित्र-शैलियां पत्र एवं कण्टक,
११ चित्रकार,
१२ चित्रकला पर ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि —
(अ) पुरातत्वीय,
(ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ —संस्कृत में केवल चित्र पर निम्नलिखित पाँच ग्रन्थ ही प्राप्य हैं —

१ विष्णुधर्मोत्तर—तृतीय भाग-चित्रसूत्र,
२ समरांगण-सूत्रधार—देखिए इस अध्ययन में चित्र-शास्त्रीय अध्याय-तालिका
३ अपराजित-पृच्छा,
४ अभिलषितार्थ चिन्तामणि (मानसोल्लास),
५ शिल्प-रत्न।

इन ग्रन्थों (पूर्व एवं उत्तर मध्यकालीन कृतियों) के अतिरिक्त सर्वप्राचीन-कृति नग्नजित् का चित्र लक्षण है। नग्न-जित के सम्बन्ध में ब्राह्मणों (ब्राह्मण-ग्रन्था) में भी संकेत मिलते हैं। यह मौलिक कृति अप्राप्य है। सौभाग्य से तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद हुआ था जिसका रूपान्तर अब भी प्राप्य है। डा० राघवन ने (देखिए Some Sanskrit texts on Painting I H O Vol X 1933) जिन दो अन्य चित्र सम्बन्धी शिल्प-ग्रन्थों की सूचना दी है, वे हैं

१ सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र
२ नारद-शिल्प।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वासवराज-कृत शिवतत्व-रत्नाकर नामक ग्रन्थ सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर अथवा अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में कन्नड भाषा से संस्कृत में रूपान्तरित किया गया था। शिवराम मूर्ति ने भी चित्र शास्त्रीय कृतियों के सम्बन्ध में खोज की है। परन्तु मेरी दृष्टि में ये ही सात ग्रन्थ अधिकृत माने जा सकते हैं।

जहाँ तक चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन का प्रश्न है उनका सर्वप्रथम श्रेय डा० कुमारी स्टेला क्रेमरिश को है जिन्होंने विष्णु-धर्मोत्तर के इस चित्र सूत्र का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उसके बाद आधुनिक भारतीय विद्या (Indology) में सब ग्रन्थ सारे ग्रन्थों को लेकर अनुसन्धानात्मक एवं शास्त्रीय अध्ययन जो मैंने अपने Hindu Canons of Painting or चित्रलक्षणम् १९५८ में प्रस्तुत किया था उसकी विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की। यह प्रबन्ध मेरी डी० लिट० थीसिस—Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting का अंग था। महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी, डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्वर्गीय वासुदेव शरण अग्रवाल,

इन विद्वानों की भरि प्रशसा से मुझे बड़ा प्रा माहन मिला। यह ग्रन्थ अग्रजी म लिखा गया था। वसे तो हिन्दी मे मैंने प्रतिमा विज्ञान Iconography पर एक बृहद् ग्रन्थ लिख ही चुका हूँ जो मेरे इस दश-ग्रन्थ आयोजन का वह प्रमुख अग था। चित्र पर अभी तक हिन्दी म शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ। अत अब मैं अपने इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित शास्त्रीय विवचन का जहा तक समरागण-सूत्रधार के चित्र-सम्बन्धी विषयो से मेल खाता है, उसी को लेकर मैं अब इस अध्ययन म सक्षेप रूप मे नवीन दृष्टिकोण से रखने का प्रयास करूगा।

हमने चित्र-शास्त्रीय प्राप्य ग्रन्थो पर पहले ही सकेत कर दिया है। उनके विषय-विवेचन अथवा उनके अध्यायो की अवतारणा की यहा पर सगति सार्थक नहीं। अत समरागण के चित्र-सम्बन्धी अध्यायो के सम्बन्ध म थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है।

इसमे सन्देह नहीं कि समरागण सूत्रधार का भवन-खड, प्रासाद-खड राज-भवन-खड ये सभी खड सम्बद्ध एव परिपुष्ट हैं परन्तु चित्र खण्ड गलित तथा भ्रष्ट भी है। चूकि चित्र का अर्थ हमने प्रतिमा माना है और प्रतिमाए जो पाषाणी हैं अथवा धातुजा हैं, वे इस सन्दर्भ म अविवेच्य नहीं हैं। चित्र पर (मृण्मयी, काष्ठमयी पाषाणी, धातुजा रत्नजा तथा आलेख्य) केवल १४ अध्याय हैं, जिसमे केवल एक ही अध्याय आलेख्य चित्र म परिगणनीय नहीं है वह है —

लिंग-पीठ प्रतिमा लक्षण

अत इसको हम प्रासाद-शिल्प म प्रासाद प्रतिमा के रूप म व्यवस्थापित करेंगे। इन अध्यायो की तालिका की ओर सकेत करने के पूर्व हमे यह भी बताना है कि लगभग निम्नलिखित सात अध्याय, आलेख्य-चित्र तथा पाषाणादि-द्रव्यजा चित्र इन दोनो के सब सामान्य (Common and Complimentary) अङ्ग हैं —

१ देवादि-रूप-प्रहरण-सयोग-लक्षण,
१ दोष-गुण-निरूपण,
३ ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण,
४ वैष्णवादि-स्थानक-लक्षण,
५ [illegible]

गया है। इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हमारा यह संकेत है कि पाठक इस ग्रंथ में अनुवाद-स्तम्भ का ध्यान से पढ़ें तो इस कारीगरी और स्थापत्य-कौशल का कितना महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्राप्त हो सकेगा।

*७ दोला-यन्त्र—इसको रथ-दोला भी कहते हैं। धारा-गृह के समान इसके भी पांच निम्न प्रकार वर्णित किये गए हैं —

१ बसन्त २ मदनोत्सव ३ वसन्त तिलक ४ विभ्रमक तथा ५ त्रिपुर।

जहां कहीं भी हमारे देश में मेले होते हैं वहां पर झूले अवश्य गाड़े जाते हैं और बच्चे उन पर चढ़कर प्रसन्न होते हैं घूमते हैं और घुमाये जाते हैं। लेकिन ये झूले स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। स० सू० के इस यन्त्राध्याय में दोला यन्त्रों के जो विवरण प्राप्त होते हैं उनसे प्रकट है कि वे साधारण यन्त्र हैं जिन में यन्त्र ही उनको चलाते हैं। जो रूप झूलों के हम आज देखते हैं वे अति सामान्य हैं। अनुवाद को यदि आप देखें तो कोई दोला जैसे बसन्त-तिलक वह द्विभौमिक है और त्रिपुर तो ऐसा आभास प्रदान करेगा मानो तीन मंजिलें दिखाई पड़ रही हैं। इन सब के विवरण अनुवाद में ही द्रष्टव्य है। हमने अपने Vastusastra—Vol I Hindu Science of Architecture with special reference to Bhoja's Samrangana Sutradhara में इस की जो विशेष समीक्षा की है और वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है, वह इस ग्रन्थ में विशेष द्रष्टव्य है।

विमान-यन्त्र —अब आइये यान-यन्त्र पर। हमें उस पर विशेष रूप से चिन्तन करना है यान-यन्त्र की जो श्रेणी हमने चौथी दी थी उसको यहां पर अन्तिम विधा में विवरण माना है। इस यन्त्राध्याय में यान यन्त्र अथवा विमान-यन्त्र पर जो प्रतिपादन है वह इस यन्त्र की सब से बड़ी विभूति है जिसका अन्य शिल्प-ग्रन्थ में कोई भी विवरण नहीं है। कालिदास से लगाकर आगे के नाना ग्रन्थों—काव्यों, नाटकों आदि में यद्यपि सर्वत्र ही संकेत प्राप्त हैं परन्तु रचना-विधि अन्यत्र अप्राप्य है। साहित्यिक सन्दर्भों की जितनी महत्ता है उतनी महत्ता जन-श्रुतियों की भी मानी जा सकती है। बहुत दिनों तक मध्य भारत के गांव-गांव में यह जन-श्रुति थी कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव के दरबार में गरुड़मुखी नाम का एक विमान था तो विमान-रचना भी इस काल में अवश्य [illegible] परन्तु तो फिर विमान यन्त्र की रचना में जो पूरे के पूरे विवरण हैं उनमें

*७ यद्यपि हमने यन्त्रों की षड्-विधा ही दी है परन्तु रक्षा और संग्राम (विधा हैं) इन दो विधाओं के विवरण की दृष्टि से सप्तधा कर दी है।

केवल दो ही तत्व प्राप्त होते है अर्थात अग्नि और पारा तथा आकार और सभार भी। निम्नलिखित उद्धरण पढिए —

लघुदारुमय महाविहग दृढसुश्लिष्टतनु विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
तत्रारूढ पूरपस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालितप्रोज्झितनानिलेन।
सुप्तस्यान्त पारदस्यास्य शक्तया चित्र कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्य सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
अय कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन।
व्योम्नो झटित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगजद्रसराजशक्त्या ॥

जैसा हमने ऊपर सकेत किया कि इस विमान-यन्त्र-वर्णन मे सारे विवरण प्राप्त नही होते, तथापि रचना प्रक्रिया अज्ञात नही थी, चूकि यह काल सामन्त वादी (Aristocratic Age) था, अत प्राकृत जनो के लिए यह भोग और विलास नही प्रदान किए गए। अतएव इनका एक मात्र राज-भोग म ही गताथ किया गया। अन इन विद्याओ एव कलाओ का सरक्षण एक-मात्र राजाश्रय ही था। अत शास्त्रीय ढग से जब इनकी व्याख्या अथवा प्रतिपादन आवश्यक था तो ग्रन्थ-कार ने इसी मूलभूत प्रेरणा के कारण बहाना लिया जो निम्न श्लोक को पढने से प्राप्त होता है —

'यन्त्राणा घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात।
तत्र हेतुरय ज्ञेयो व्यक्ता नते फलप्रदा ॥

यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि पारम्पर्य कौशल सोपदेश शास्त्राभ्यास वास्तुकर्मोद्यमा बुद्धि—यह सभी इस प्रकार की यान्त्रिक घटना और पारिभाषिक ज्ञान के लिए अनिवाय अग हैं तथापि यह बहाना भी तार्किक नही है। तथ्य यह है कि प्राचीन वाड्मय के रहस्य की कुजी रहस्य गोपन है। अत म इस यन्त्राध्याय की समीक्षा म यह अवश्य हमे स्वीकार करना है कि हमारे देश मे यन्त्र-विद्या की कमी नही थी।

भारत की प्राचीन सस्कृति मे मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तीनो ही अपनी अपनी दिशा मे विकास एव प्रोल्लास की ओर जाते रहे, परन्तु जिस प्रकार वदिक युग मे मन्त्रो का प्रावल्य था फिर कालान्तर म विशेष कर मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल मे तन्त्रो का इतना प्रावल्य हुआ कि यन्त्रो के भौतिक विकास को

आश्रय न लेकर एक-मात्र इनको चित्र मे चित्रित कर दिया। अतएव तान्त्रिक लोगो ने मन्त्र-बीज, तन्त्र-बीज, यन्त्र-बीज—इन्ही उपकरणो से एवं उपलक्षणों से भौतिक यन्त्रो को एक मात्र नाम-मात्र की अभिधा मे गताथ कर दिया।

बात यह है कि समरागण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के प्रथम श्लोक (मगलाचरण) को पढे साथ ही साथ गीता के श्लोक को भी पढे जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं तो हमारे इस उपयुक्त मत का अपने आप पोषण हो जाता है। अर्थात् यन्त्रो को अध्यात्म-विभूति म पयवसित कर दिया अयथा हमारा देश इस यान्त्रिक विज्ञान से पीछे न रहता —

जडाना स्पन्दने हतु तथा चेतनमक्रम ।
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम् ॥
भ्राम्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रशस्तमेतज्जगत्त्रितययन्त्रमलक्ष्यमध्यम् ।
भूतानि बीजमखिलान्यपि सम्प्रकल्प्य य मतन भ्रमयति स्मरजित्सवोऽव्यात ॥
ईश्वर सवभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सवभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

राजसी कलायें

चित्र-कला

हमने अपने उपोदघात मे पहले ही यह सकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही, चित्र का अर्थ वास्तव मे प्रतिमा है, अतएव इस अध्ययन मे चित्र का हम निम्न दो दृष्टि-कोणो से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों म विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो मे कवलित कर सकते है १ चित्राभास अर्थात आलेख्य, २ चित्रार्ध एव चित्र अर्थात् प्रतिमा आंशिक अथवा पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलख्य चित्र पर जितने ग्रन्थ प्राप्त होते है, थोडा सा सकेत करना आवश्यक होगा पुन आलेख्य कला का ललित कलाओ म क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुन चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय) कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुन चित्रकला के अगो (विभाग) तथा विधाओ (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। शिल्प ग्रन्थो की दृष्टि से वर्तिका-निर्माण, वर्तिका-वर्तन एव वर्ण-सयोग (colouring) तो चित्र विद्या के सबसे प्रमुख कौशल हैं। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार दक्ष भी चित्र-विद्या का प्रमुख अग है। वास्तु, शिल्प, एव चित्र की दृष्टि से नाप तीसरी प्रमुख विशेषता है। कोई भी शिल्प बिना नाप के कला के रूप मे नही परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न साधनो मे प्रमाण भी उतने ही प्रशस्त प्रकल्पित किए गए है। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनो ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते है। मध्यकालीन चित्रकार विशेषकर मुगलो के दरबार मे जो चित्रकार अपनी ख्याति से इतिहास मे आज भी विद्यमान है वे बिना अन्त-वर्तना (बादाम) के कोई चित्र नही बनाते थे। इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तर समराङ्गण-सूत्रधार तथा मानसोल्लास इन तीनो ग्रन्थो की दृष्टि मे अडक वर्तना चित्र-कौशल मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय चित्र-शास्त्र की दृष्टि मे सबसे बडा सूक्ष्मेक्षिका कौशल

५ पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण,

६ रस-दृष्टि-लक्षण,

७ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण,

जहा तक इन अध्यायो की विवेचना है, वह अनुवाद से स्वत प्रकट है, अत वही द्रष्टव्य हैं और यहा पर उनका विस्तार अनावश्यक है।

अस्तु, जो आलेख्य (Painting) से ही एक मात्र सम्बंधित हैं, उन अध्यायो की तालिका निम्न है —

चित्रोद्देश,
भूमि-बन्धन,
लेप्य-कर्म,
अण्डक-प्रमाण,
मानोत्पत्ति तथा
रस-दृष्टि

चित्रकला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय (Scope)

चित्र कला के उद्भव मे हमारे देश मे दो दृष्टि-कोणो ने इस ललित कला को जन्म दिया। वैसे तो कला संस्कृति एव सभ्यता का अभिन्न अग माना गया है। जिस देश की जैसी सभ्यता एव संस्कृति होगी वैसी ही उस देश की कलाए होगी। भारतीय संस्कृति और सभ्यता मे अध्यात्म और भौतिक अभ्युदय दोनो को ही माप-दण्ड के रूप मे परिकल्पित किया गया है। वैदिक इष्टि (यज्ञ-सस्था) के बाद जब पूर्त-धर्म (देवालय-निर्माण एव देव-पूजा) ने अपने महान प्रकर्ष से इस देश मे पूरी तरह से पैर फैला दिए, तो प्रतिमा-पूजा अनायास विकसित और प्रवृद्ध हो गई। हमने अपने उपोद्घात मे चित्र पद की परिभाषा मे प्रतिमा शब्द की ओर पूर्ण रूप से परिचय दे ही दिया है—चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास। अत जहा पाषाण-निर्मिता तथा मृण्मयी (पार्थिवा जैसे पार्थिव लिंग) एव धातुजा प्रतिमाए पूजा के लिए बनाई जाती था क्योंकि ज्ञानी और योगी तो बिना प्रतिमा के भी ब्रह्म-चिन्तन एव ईश्वराराधन कर सकते थे, परन्तु महान् विशाल समाज सारा का सारा ज्ञानी और योगी नही परिकल्पित किया जा सकता, अतएव इसी दृष्टि को रखकर हमारे आचार्यो ने स्पष्ट उद्घोष किया —

"अज्ञाना भावनार्थाय प्रतिमा परिकल्पिता

"सगुण-ब्रह्म-विषयक-मानस व्यापार उपासनम्"

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।
उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥
"आदित्यमम्बिका विष्णु गणनाथ महेश्वरम ।
पच-यज्ञ-परो नित्य गृहस्थ पञ्च पूजयेत ॥'

जहा प्रासादो मे प्रतिष्ठापित प्रतिमाए पूज्य हैं, उसी प्रकार पट्ट, पट कुड्य चित्र भी उसी प्रकार पूज्य बने । हयशीर्ष-पचरात्र वैष्णव आगमो और तन्त्रो मे एक प्रमुख स्थान रखता है । उसका यह निम्न प्रवचन पढें तो उपरोक्त हमारा सिद्धान्त पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाता है —

यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणीह लेखयेत ।
तावद् युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
लेप्ये चित्रे हरिर्नित्य सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन लेप्यचित्रगत यजेत् ॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्र यस्मात स्फुट स्थित ।
अत सन्निधिमायाति चित्रजासु जानदत ॥
तस्मच्चित्रार्चने पुण्य स्मृत शतगुण बुधै ।
चित्रस्थ पुण्डरीकाक्ष सविलास सविभ्रमम् ॥
दृष्टवा मुच्यते पापैर्जन्मकोटिसुसञ्चितै ।
तस्माच्छुभार्थिभिर्धीरै महापुण्यजिगीषया ॥
पटस्थ पूजनीयस्तु देवो नारायण प्रभु ।
—हयशीर्षपचरात्रात्—

लगभग दो हजार वर्षों की परम्परा है कि जो भी यात्री दर्शनार्थी, पुरी जगन्नाथ के दर्शनार्थ तीर्थ-यात्रा करता है वह भगवान जगन्नाथ के पटो को जरूर लाता है । आज भी प्राय उत्तरापथ में प्रत्येक घर में स्त्रिया अपने पुत्रो के आयुष्य एव उनके कल्याण के लिए किसी न किसी दिन विशेष कर वासन्त मासों (चैत्र एव वैशाख) मे किसी न किसी चन्द्रवार के दिन पट पर भगवान जगन्नाथ की पूजा करती हैं नाना प्रकार के मिष्टान्नो से उनका भोग लगाती हैं एव वासन्त कुसुमो विशेषकर पलाश पुष्प (टीसू) अवश्य चढाती हैं । अत उपर्युक्त यह हयशीर्ष-पचरात्रीय प्रवचन कितना अधिकृत एव अति प्राचीन परम्परा का प्रतिष्ठापक एव उद्बोधक है, वह अनायास सगत एव सुप्रतिष्ठित हो जाता है ।

यह तो हुआ धार्मिक उदभव जहा तक भौतिक दृष्टि-कोण का सम्बन्ध है, उसमे वात्स्यायन के काम-सूत्र मे प्रतिपादित चतुष्पष्टि-कला (६४ कलाओ) का जो महान् प्रोल्लास प्राप्त होता है, उसका पूरा का पूसा सम्बन्ध नागरिक सभ्यता नागरिको के जीवन के अभिन्न अग की प्रतीकात्मता को दृढ करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी बात है कि प्रत्येक नागरिक के घर मे रग का प्याला और रगने की लेखा (bowl and brush) दोनो गृहस्थी के अनिवार्य अग थे। आप महाकवि कालिदास के काव्यो को पढे महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी देखें—कितना चित्र-कला का विलास था। हमने अपने अग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) मे यह सब पूरी तरह से समीक्षा प्रदान की है। वह वहा विशेष रूप मे द्रष्टव्य है।

चित्र-कला के उदभव मे चित्र-शास्त्र की सवप्रथम कृति एव अतिप्राचीन अधिवृत ग्रन्थ नग्न-जित के चित्र-लक्षण' मे जो चित्रोत्पत्ति की मनोरञ्जक कहानी है वह यहा अवतार्य है —

'पुरानी कहानी है कि एक बडा ही उदार धर्मात्मा तथा प्रतापी राजा था, जिसका नाम था भयजित्। सभी प्रजाए सानन्द थी। अकस्मात एक दिन एक ब्राह्मण उसके दरबार मे आ पहुचा और जोर से चिल्लाता हुआ बोला ऐ राजन्, सत्यत आपके राज्य मे पाप है, नही तो मेरा पुत्र अकाल-मृत्यु के गाल मे कैसे कवलित हो गया? कृपा करके मेरे पुत्र को मृत्यु के पजा से छुडाओ और उस लोक मे पुन इसी लोक मे लाओ। राजा ने तत्क्षण ही यमराज से प्रार्थना की—हे यमराज जी महाराज! इस बालक को लाओ अन्यथा घोर युद्ध होगा। यमराज ने जब प्रार्थना अनसुनी कर दी तो फिर दोनो मे घनघोर युद्ध हो गया और अततोगत्वा यम हार गया। विधाता ब्रह्मा किंकर्तव्य-विमूढ हो गये। तत्क्षण वे वहा आविर्भूत हो गये और राजा से कहा राजन! जीवन एव मरण तो कर्म पर आश्रित हैं। यम का अपना व्यक्तिगत तो कोई हाथ नही। तुम इस बच्चे का चित्र बनाओ। ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर उसने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसमे जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित कर कहा —

"चूँकि तुमने इन नग्नो—प्रेतो को भी जीत लिया—अत तुम आज से हे राजन्! नग्न-जित् के नाम से विश्रुत हो गये। तुम इस ब्राह्मण बालक का चित्र मेरी ही कृपा या आशीष से बना सके हो। ससार मे यह प्रथम चित्र है। तुम जाओ दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा के पास। विश्वकर्मा जी वास्तु-शिल्प-चित्र के

माचार्य हैं, वे तुम को सारा चित्र-शास्त्र एवं चित्र-विद्या पढायेंगे।'

विष्णु-धर्मोत्तर अति प्राचीन एवं अधिकृत ग्रन्थ है उसका भी यहां चित्रोत्पत्ति वृतान्त उद्धरणीय है —

नर-नारायण की कथा से हम परिचित ही हैं। जब भगवान नारायण बदरिकाश्रम में मुनिवेष-धारी तपश्चर्या करने लगे तो उन्हें हठात् चित्र विद्या को जन्म देना पडा। कहानी है कि नर एवं नारायण दोनों ही इसी आश्रम में साथ साथ तपस्या कर रहे थे। अप्सराओं की अति प्राचीन समय से यह परम्परा रही है कि जब कोई मुनि या योगी तप करते हैं तो वे आकर बाधा डालती हैं रिझाती है। विश्वामित्र-मेनका की कहानी से सभी परिचित हैं। ऐसी बाधा में भगवान् नारायण ने कमाल कर दिया। तुरंत ही आम्र-रस लेकर तथा अन्य वन्य-औषधियों को मिलाकर एक इतनी कमाल की खूबसूरत अप्सरा की रचना कर दी जो कोई भी देवी, गान्धर्वी, आसुरी, नागी या मानवी सुन्दरी उसका मुकाबला कर सके। अतः ये सारी की सारी दसों अप्सरायें इस नारायण-निर्मिता सुन्दरी अप्सरा को देख कर शर्मिन्दा हो कर सदा के लिये विलीन हो गयीं। यही अप्सरा पुनः सर्व-सुन्दरी अप्सरा ऊर्वशी के नाम से विश्रुत हो गयी।

विष्णु-धर्मोत्तर के एक दूसरे सन्दर्भ को पढ़ें, तो वहां पर शास्त्रीय उद्भव पर बडा मार्मिक एवं प्रबल प्रवचन प्राप्त होता है। मार्कण्डेय और वज्र के प्रश्न और उत्तर के रूप में विष्णु-धर्मोत्तर में चित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बडा ही मौलिक एवं सार्वभौमिक उद्देश्य एवं क्षेत्र की ओर सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होता है। विष्णु-धर्मोत्तर में निराकार की कल्पना एवं उसकी साकार रूप में पूजा बिना चित्र के असम्भव है। निराकार यथा-निरुक्त न कोई रूप रखता है न गन्ध न स्पर्द, न शब्द, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप में कैसे परिणित किया जा सकता है—वज्र की इस जिज्ञासा में मार्कण्डेय का उत्तर है कि प्रकृति और विकृति वास्तव में परब्रह्म की लौकिक दृष्टि से दोनों भिन्न होते हुए भी उसी के परिवर्तन-शील रूप हैं। ब्रह्म प्रकृति है और विश्व विकृति है। ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाए। अतएव उसकी रूप कल्पना के लिये चित्र के बिना यह सम्भव नहीं। जैसा कि हमने पहले ही रामोपनिषद का प्रवचन पाठकों के सामने रख दिया है (चिन्मयस्येत्यादि)।

मध्यकालीन अधिकृत शिल्प-शास्त्रीय कृति अपराजित-पृच्छा में चित्र के उद्देश्य, उत्पत्ति एवं क्षेत्र अथवा विस्तार पर जो प्रवचन है वह बडा ही मार्मिक

है और समस्त स्थावर एव जगम को चित्र की कोटि मे केलि करा रहा है। निम्न अवतरण पढिये —

चित्रमूलोद्भव सर्वं त्रैलोक्य सचराचरम् ।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगा ॥
स्थावर जगम चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी ।
चित्रमूलोद्भव सर्वं जगत्स्थावरजगमम् ॥
वृक्षगुल्मलतावल्ल्य स्वेदजाण्डजरायुजा ।
सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूधरा द्वीपसागरा ॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा ।
चित्रमूलोद्भूता सर्वे ससारद्वीपसागरा ॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णा वै चित्ररूपका ।
तनौ च नखकेशादि चित्ररूपमिवाम्भसाम् ॥
भगवान् भवरूपश्च पश्यतीद परात्परम् ।
आत्मवद् सर्वमिद ब्रह्मतेजोऽनुपश्यताम् ॥
पश्यन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमस यथा ।
तद्वच्चित्रमय सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिन ॥
विम्ब विश्वावतारश्च स्वनाद्यन्तश्च सम्भवेत् ।
आदि चित्रमय सर्व पश्यन्ति ब्रह्मचक्षुषा ॥
शिवशक्तेयथारूप ससारे सृष्टिकोद्भव, ।
चित्ररूपमिद सर्वं दिन रात्रिस्तथैव वै ॥
निमिषश्च पल घट्यो याम पक्षक एव च ।
मासाश्च ऋतवश्चैव काल सवत्सरादिक ॥
चित्ररूपमिद सर्वं सवत्सरयुगादिकम् ।
कल्पादिकोद्भव सर्वं सृष्ट्याद्य सर्वकर्मणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्ती रचितारचिता तथा ।
तथा चित्रमिद ज्ञेय नानात्व चित्रकर्मणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिगणा सर्वे तद्रूपा पिण्डमध्यगा ।
आत्मा चात्मस्वरूपेण चित्रवत् सृष्टिकर्मणि ॥
आत्मरूपमिद पश्येद् दृश्यमान चराचरम् ।
चित्रावतारे भाव च विधातुर्भाविवर्णात ॥
आत्मन च शिव पश्येद् यद्वय्य जलचन्द्रमा ।

तद्वच्चित्रमयं भव शिवशक्तिमयं परम् ॥
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षं चित्रमयं तथा ।
शिवशक्त्यालयं चैव चन्द्रार्कपवनात्मकम् ॥
सूर्यपीठोद्भवा शक्तिः सलग्ना ब्रह्ममागत ।
लीयमाना च द्रुमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकर्मणि ॥
चित्रावताररूपं तु कथितं च परात्परम् ।
यतस्तु वनतं चित्रे जगत्स्थावरजंगमम् ॥
देवो देवी शिवः शक्तिः व्याप्तं यतश्चराचरम् ।
चित्ररूपमिदं ज्ञेयं जीवमध्ये च जीवकम् ॥
कूपो जले जलं कूपे विधिपर्य्यायतस्तथा ।
तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वं तथैव च ॥

यह नहीं कहा जा सकता और न धारणा ही बनाई जा सकती है कि चित्र की उत्पत्ति अथवा उसका उद्देश्य एकमात्र धार्मिक था। चित्र-कला और चित्र-विद्या का भौतिक सेवन से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। हम पहले ही इस सम्बन्ध में थोड़ा सा संकेत कर चुके हैं (देखिए वात्स्यायन का युग और उस समय की ६४ कलाएं)। गुप्त-कालीन इतिहास को पढ़ें और उसके बाद के साहित्य काव्य नाटक आदि को पढ़ें तो ऐसा प्रतीत होता है कि नागरिकों के जीवन में चित्र कला एक अभिन्न अंग थी। पुनः वास्तु-शास्त्रीय एवं शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से एक आधार-भौतिक सिद्धान्त यह भी है कि कोई भी वास्तु अथवा शिल्प कृति (Architecture or Sculpture), आलेख्य अथवा लेप्य (Paintings) के बिना पूर्ण कृति नहीं मानी जा सकती। जन-भवनों (Secular Architecture-Civil Architecture-Residential Houses) में भी चित्र सम्बन्धी योज्यायोज्य-व्यवस्था (Decorative Motifs) पर स० सू० में बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन है (दे भवन-निवेश)। शिल्परत्न का निम्नलिखित प्रवचन कितना इस दृष्टि से वास्तु-शिल्प चित्र का अन्योन्याश्रय एवं अभिन्नता प्रदर्शन करता है

"एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः ।
मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैर्विचित्रतम् ॥

अस्तु, इस थोड़ी सी समीक्षा में उद्देश्य, उत्पत्ति एवं विषय—सभी पर कुछ प्रकाश पड़ चुका। अब आइये—चित्रांगों पर।

अंग अवयव तथा विधा —

षडङ्ग-चित्र —वात्स्यायन के काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ टीका-कार यशोधर ने निम्न कारिका में चित्र के प्रधान अंगों का करामलकवत् प्रतिपादन

किया है —

"रूपभेदा प्रमाणानि लावण्य भावयोजनम
सादृश्य वर्णिकाभग इति चित्र षडङ्गकम ।।"

अर्थात चित्र-कला के हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि मे निम्न चित्राग न केवल कला की दृष्टि मे बल्कि रसास्वाद की दष्टि से भी ये अग प्रतिपादित किए गय हैं, लेकिन चित्र को हम दो दृष्टियो से समीक्षा करेंगे एक दशक और दूसरा चित्रकार। पहले से सम्बन्ध चित्र-कौशल से नही है चित्रालोकन अथवा चित्रास्वाद से है, परन्तु चित्रलेखन तो निम्नलिखित अष्टाग उपकरणो पर आश्रित है। इस प्रकार हम दोनो तालिकाओ को पाठको क सम्मुख प्रस्तुत करते है। चित्राङ्ग—(१) रूप-भेद—नाना आकार, (२) प्रमाण (३) लावण्य (सौन्दय), (४) भावयोजन अर्थात भावाभिव्यक्ति जो रसाभिव्यक्ति पर आश्रित है (देखिए रस और रसदृष्टिया—अनुवाद) (५) सादृश्य अर्थात् चित्र और चित्रय दोनो साक्षात एक प्रतीत हो रहे है, (६) वर्णिक भग अर्थात् वण-विन्यास (Colours and Reliefs) ये क्षय-वद्धि-सिद्धान्त एव प्रक्रिया के मौलिमालायमान चित्र-कौशल हैं।

ब–चित्र-उपकरण –

(१) वर्तिका अर्थात् लेखनी—लेखा अथवा ब्रुश
(२) भूमि-बन्धन (Canvas or Background)
(३) लेप्य-कम (Drawing the Sketch),
(४) रेखा-कम (Delineation and Articulation of form)
(५) वण-कम—नानाविध रग,
(६) वतना—छाया और कान्ति की उद्भावना
(७-८) टि० दोनो उपकरण मूल म भ्रष्ट है।

स–चित्र-विधा –

अव आइय चित्रा की विधाओ पर। विष्णुधर्मोत्तर मे चित्रो क चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं —

(१) सत्य, (३) नागर तथा
(२) वैणिक (४) मिश्र।

सत्य से तात्पर्य लोक-सादृश्य से है अर्थात् जैसा लोक वैसा ही चित्र, जिस को हम True, Realistic Oblong frame के रूप म परिकल्पित कर सकते

हैं, वैणिक की व्याख्या मे विद्वानो मे मतभेद है । पदार्थ की दृष्टि से यह पट वीणा से बना है तो हम इसको चतुरश्र अर्थात चौकोर आकृति मे भी विभावित कर सकते हैं । इस चित्र-प्रकार के वर्णन मे वि० ध० ने दीर्घांग सप्रमाण, सुकुमार, सुभूमिक, चतुरश्र तथा सुसम्पूर्ण —इन विशेषणो से विशिष्ट किया है । जहा तक तीसरे चित्र-प्रकार का सम्बन्ध है यथानाम उनको हम Gentry pictures in round frames म परिकल्पित कर सकते हैं और यह एक प्रकार के सादे चित्र माने जाते हैं । जहा तक चौथा अर्थात मिश्र-प्रकार का सम्बन्ध है उसकी कोई विशेषता नही । वह इन सब विधाओ का मिश्रण ही कहा जा सकता है। डा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की इस व्याख्या का खण्डन करते हैं (vide Sanskrit Texts on Paintings I H Q Vol X 1933) । पाठक उस को वही पर पढें और समझें । मैंने जो ऊपर साधारण सकेत किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है । विष्णु-धर्मोत्तर लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। आगे चल कर पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल मे चित्र विद्या मे विशेषकर शास्त्र की दृष्टि से बडी उन्नति हुई, तो अनायास चित्रो की विधा पर काफी शास्त्रीय एव कलात्मक स्वत प्रकर्षता प्राप्त हो गई । समरागण-सूत्रधार मे बडे ही वैज्ञानिक एव क्रमिक दिशा से चित्रो की विधा को चित्र-बन्धन पर आधारित कर रक्खा है । अत इस अधिकृत ग्रन्थ की दृष्टि मे चित्र के प्रकार केवल तीन हैं :—

(१) पट्ट-चित्र (Paintings on Board),
(२) पट-चित्र (Paintings on Cloth), तथा
(३) कुड्य-चित्र (Paintings on Wall—Mural Paintings) देखिए अजन्ता आदि ।

मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) म चित्रो का विधा पचधा बताई गई है —

(१) विद्ध, जो वास्तव मे यह विद्ध वि ध के सत्य से अनुषगित करता अस्तु, पर लोक सादृश्य अर्थात दर्पण-सादृश्य चित्रकार का कौशल अभिप्रेत है ।
कुछ प्रकाश पड़ । अविद्ध—इस का हम एक प्रकार से आधुनिक Outline Drawing
अग अवय कल्पित कर सकते हैं
षडङ्ग-चित्र
यशोधर ने निम्न भाव से तात्पर्य भावव्यक्ति से है । मानसोल्लास की दृष्टि मे
र मे श्रृगार आदि रसो का महत्वपूर्ण स्थान है,

(४) रस-चित्र—इस चित्र से सम्बन्ध उपयुक्त भाव से नहीं, यहा रस का अर्थ द्रव है, जो वर्ण-भग एव वर्ण-विन्यास एव वर्ण-चित्रण अर्थात् वर्ण-लेप पर आश्रित है,

(५) धूली-चित्र —यह एक प्रकार से प्रोज्ज्वल वर्णों का आग्रायक है।

टि० यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नही है, कुछ थोडा सा भ्रमात्मक प्रतीत होता है।

शिल्प-रत्न मे चित्रो की विधा केवल तीन दी गई है —

(१) रस-चित्र, जो मानसोल्लास के भाव चित्र मे परिगणित किया जा जा सकता है,

(२) धूली-चित्र तदव दे० अभि० वि०

(३) चित्र—यह एक प्रकार का वि० ध० का सत्य और मानसोल्लास का विद्ध माना जा सकता है।

चित्र प्रकारो का यह स्थूल समीक्षण यहा पर्याप्त है विशेष विवरण मेरे अग्रेजी ग्र थ Royal Arts —Yantras and Citras म देखिये।

वर्तिका—भूमि-बन्धन चित्र-कला का प्रथम सोपान है। बिना भूमि-बन्धन बन्धन के आलेख्य असम्भव है। भूमि का अर्थ यहा पर कैनवास है। आलेख्य म इस साध्य के लिए जो साधन विहित है उसको हम वर्तिका की सज्ञा देते है। इस प्रकार वर्तिका और भूमि-बन्धन दोनो को एक दूसरे के साधक-साध्य के रूप मे परिकल्पित कर सकते है। वर्तिका को हम ब्रुश नही कह सकते। यह वर्तिका विशेषकर भूमि-बन्धन मे ही उपयोगी मानी जाती है। चित्र-कला के अष्ट विध उपकरणो मे वर्तिका का सकेत हम कर ही चुके हैं। कुछ आधुनिक विद्वानो ने वर्तिका का अर्थ ठीक तरह से नही समझा। डा० मोती चन्द्र ने (Cf Technique of Mughal Painting Page 45) वर्तिका को वर्तना के रूप मे समझा है। यह भ्रान्त है। वर्तना एक प्रकार से वर्ण-विन्यास है और वर्तिका उपकरण है। इस प्रकार वर्तिका को हम आधुनिक चित्र के पारिभाषिक पदो मे (Crayon) के रूप म विभावित कर सकते हैं। इस समीक्षा से हम यह सिद्ध कर देते हैं कि प्राचीन भारत म आलेख्य चित्रो की रचना म (Crayon) के द्वारा जो चित्र के लिए पहला स्केच बनाया जाता था, वह वास्तव म उस अतीत में भी यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से प्रचलित थी। सयुत्त निकाय (द्वितीय, ५) मे इस प्रक्रिया का पूर्ण स्केच है, जो आलेख्य चित्रो और (Panels) मे भी प्रयुक्त होती थी। इसी प्रकार दश-कुमार चरित एव

प्रसन्न-राघव में भी क्रमश इसे वर्ण-वर्तिका तथा शलाका के नाम से निर्दिष्ट किया है। मुगल-कालीन चित्रकार चित्रों के बनाने में जो खाका खींचने थे वे इमली के कोयले को लेकर यह क्रिया करते थे। आज आधुनिक काल में जब पैंसिलों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो यह परम्परा समाप्त हो गई।

अस्तु शास्त्रीय दृष्टि से आलेख्य-चित्रों में चित्र विन्यास के लिए तीन प्रकार की लेखनियां अनिवार्य थी—वर्तिका, तूलिका, लेखनी। वर्तिका का प्रयोग भूमि-बन्धन अर्थात Canvas or Background के लिए होता था। पुन वर्ण विन्यास (Colouring) के लिए तूलिका और लेखनी। पुन चित्र के उन्मीलन के लिए एव उसमें प्रोज्ज्वलता के साथ कान्ति और छाया (Light and Shade) के लिए प्रयुक्त होती थी। आगे आलेख्य चित्र में जो सर्वमौलिमालायमान प्रमुख शास्त्रीय दृष्टि से सिद्धान्त है वह है "क्षय वृद्धि का सिद्धांत' अर्थात् कहां पर किस अंग में भाव-व्यक्ति के लिए लावण्य लाने के लिए एव सौन्दर्य की स्थापना करने के लिए तथा लोक-सादृश्य एव विनिर्मेय चित्र के द्वारा क्या क्या सूक्ष्म है, प्रदृश्य हैं विभाव्य है—यह सब इसी सिद्धान्त के द्वारा चित्र स्फुटता और चित्रकार का अभीप्सित उद्देश्य भी सम्पन्न हो जाता था। चित्र-कला और चित्र-कार का यही परम कौशल था। मानसोल्लास में जो वर्तिका की परिभाषा दी गई है वह हमारे इस उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ़ करती है —

कज्जलं भक्तसिक्थेन मृदित्वा कणिकाकृतिम्।
वर्ति कृत्वा तया लख्यं वर्तिका नाम सा भवेत्॥

यह वर्तिका-व्याख्या समरांगण जैसे अधिकृत शिल्प-ग्रन्थ से भी पुष्ट होती है (दे० अनु० अ० ७१) मानसोल्लास—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-नामापर शीर्षक-ग्रन्थ में जो हमने आलेख्य चित्र में तीन लेखनियों (वर्तिका, तूलिका तथा लखनी) का जो संकेत किया है, उनमें तूलिका (Paint Brush) भी एक प्रकार से द्विविध कीर्तित की गई है। तूलिका यथानाम कलरपेन है जो रेखाओं के लिए है और इसकी दूसरी विधा तिन्दुक नाम से निर्दिष्ट की गई है। इन दोनों की रचना-प्रक्रिया में भी बड़े कौशल की आवश्यकता होती थी। विशेषकर बांसवंश में यह बनती थी, क्योंकि वंश ही इन लेखनियों के लिये उस समय बड़ा उपयुक्त माना जाता था और उस में ताम्र की यवमात्रिक निब लगाई जाती थी।

जहा तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसकी प्रक्रिया समरागण-सूत्रधार (मूलाध्याय ७२ १–३ तथा परिमार्जित समरागण ४९, १-३) मे देखिये और साथ ही इस का अनुवाद भी देखिये वहा पर इस वर्तिका-बधन मे कितन अध्यवसाय की आवश्यकता होती थी—कहा से, किस क्षेत्र से गुल्म वापी, वृक्ष मूल आदि आदि स्थानो से—मत्तिका लानी चाहिय। फिर उसमे कौन कौन से द्रव्य चूण, औषधिया आदि मिलाई जाती थी और किस पारिभाषिक प्रक्रिया से इस की वर्तिका (वर्ति) बनाई जाती थी—यह सब हमारे प्राचीन शिल्प एव चित्र की प्रौढ प्रक्रिया एव परम्परा पर प्रकाश डालती है।

भूमि-बन्धन—वसे तो अय चित्र शास्त्रीय ग्र था मे चित्रा क जो प्रकार बताय जाते हैं, वे कुछ मौलिक एव निर्भ्रात नही है सत्य वैणिक विद्ध अविद्ध धूलि रस आदि सब मेरी दष्टि म वर्गानुरुप स्पष्ट नही है, परन्तु समरागण की दष्टि मे यह दिशा बडी वैज्ञानिक है, क्योकि पुरातत्त्वीय अन्वेषणो म प्राप्त जो निदशन मिलते हैं वे भी समरागण के चित्र-प्रकारो की पूरी पुष्टि करते हैं। प्राचीन, पूव एव उत्तर मध्य-कालीन जो स्मारक निब धनीय चित्र मिलत है वे या तो कुडय चित्र (Mural Paintings) हैं अथवा पट्ट-चित्र (Panels) अथवा पट-चित्र जैसे पुरी मे भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्र—"पटस्थो नारायणो हरि"—(दे० हृ० प०)। इसी प्रकार नाना भाण्डागारो मे ऐसे चित्र-स्मारक रूप मे बडी मात्रा मे मिलत हैं। अतएव स० सू० मे जो चित्र की त्रिविधा है वही चित्रानुकूल भूमि-ब धन भी त्रिविध है।

(१) कुड्य-भूमि-बन्धन (The Mural Canvas),

(२) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Board Canvas),

(३) पट भूमि-बन्धन (The Cloth Canvas)।

इन भूमि-बन्धनो के निर्माण की प्रक्रिया बडी ही एक प्रकार की व्रतचर्या-रूपा है। समरागण-सूत्रधार (द० अनु०) का आदेश है कि भूमि ब धन क नियं क्ता अयात चित्रकार, भर्ता अर्थात सरक्षक, शिक्ष अथवा आचाय या गुरु—इन सब को पहल व्रत रखना चाहिय। फिर जो भूमि ब धन क पूव वर्तिका निर्मित हो चुकी है उसकी पूजा करनी चाहिए। पुन यथाभिलषित भूमि ब धन खर अथवा मृदु—तदनुरूप पिण्डादि, कल्कादि चूर्णादि एव द्रवादि इन सबो से रोमकूचक से लेप, प्लास्टर करना चाहिए। यह एक प्रकार की आरम्भिका प्रक्रिया है, जिसकी सज्ञा शिक्षिका भूमि दी गई है। अस्तु अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनो की अलग-अलग समीक्षा करेंगे।

कुड्य-भूमि-बन्धन—भित्तिक-चित्रो के लिये लेप्य-प्रक्रिया आवश्यक है। पहल तो दीवाल को सम बनाना चाहिये पुन क्षीर-द्रुमो जैसे स्नुही वास्तुक, कूष्माण्डक, कुद्दाली, अपामार्ग अथवा इक्ष आदि के क्षीर रस को एक सप्ताह तक रक्खा जाय। शिशपा, आमन, निम्बा, त्रिफला, व्याधिघात, कुटज आदि वर्ग के रस मे उपयुक्त क्षीर-द्रुमो के रसो को मिश्रित द्रव्य बना कर उसके द्वारा *समतलीय भित्ति पर सिंचन करना चाहिये । पुन दूसरी प्रक्रिया पर आना* चाहिये जो मृत्तिका-लेपन से उस का लिम्पन करना चाहिये। मृत्तिका मादवी होनी चाहिये और उसमे ककुभ, माष, शाल्मली श्रीफल वृक्षो के द्रवो को लेकर मिलाना चाहिये। इस तरह से प्लास्टर बनाकर गज-चम प्रमाण मे दीवाल पर लेप करना चाहिये। तीसरी प्रक्रिया अर्थात अन्तिम प्रक्रिया के द्वारा कडि-शकरा-चूर्ण के द्वारा इस पर दूसरा प्लास्टर करना चाहिये। इस प्रक्रिया से वर्ण विन्यास अपने आप उभर आता है और छाया कान्ति भी इसी के द्वारा प्रस्फुटित हो जाती है।

अजन्ता के चित्रो को देखिये तो Frescos चित्र ही वहा के सब से बड़े अनुपम एव समृद्ध निदर्शन है। वे इसी समरागण-सूत्रधार की कुड्य भूमि-*निबन्धन के निदर्शन हैं। ग्रिफिथ (देखिये The Paintings in the Buddhist* Cave Temples of Ajanta Vol I, Page 18) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन किया है। अजन्ता के इन कुड्य-भूमि-बन्धनो म मृत्तिका, गोबर चावल की भूसी और चूर्ण (कडि-शकरा) आदि सभी चूर्ण एव द्रव यथा-पूर्व प्रतिपादित प्रक्रिया के द्योतक एव समर्थक हैं। तञ्जौर के बृहदीश्वर मन्दिर के आलेख्य चित्रो को देखें तो वहा पर भी कडि शकरा और बालुका का प्रयोग भी इन भित्तिक चित्रो मे साक्षात् प्रतीत हो रहा है। दक्षिण का यह अति-प्रसिद्ध मन्दिर ११वीं शताब्दी का स्मारक-प्रासाद है और समरागण-सूत्रधार भी इसी शताब्दी मे लिखा गया था। अतएव शास्त्र एव कला दोनो का यह ग्रन्थ प्रतिनिधित्व करता है। श्री परम शिवन (देखिये The Mural Paintings on Brhadisvare Temple at Tanjore—an Investigation into the method and Technical studies in the Field of Fine Arts) ने भी इस प्रक्रिया की समीक्षा मे इस प्रतिपादित शास्त्रीय प्रक्रिया का समर्थन किया है।

जहा तक मुगल चित्रो एव राजस्थानी चित्रो, जिन को हम उत्तर मध्य कालीन कृतियो के रूप में विभावित कर सकते है उनमे भी इसी प्रकार का

भूमि बन्धन-प्रक्रिया का आश्रय लिया गया था। वैसे तो आधुनिक विद्वानो ने मुगल-कालीन भित्तिक चित्रो के भूमि-बन्धन को इटली के समान उसको Fresco Buono की मना दी है।

अस्तु, हमे यहा पर विशेष विस्तृत समीक्षा मे जाने की आवश्यकता नही। हम तो समरागण-सूत्रधार की लेप्य-क्रिया की प्रक्रिया को पाठको के सामने रखना था, जो हमारे चित्र-शास्त्र और चित्र-कला के पारिभाषिक एव लौकिक दोनो दृष्टियो का विकास कितना उस समय हो चुका था, यह प्रतिपादित करता है।

अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनो मे कुड्य भूमि-बन्धना के बाद पट्ट भूमि-बन्धन पर आ रहे है। 43647

पट्ट-भूमि बन्धन —इस प्रक्रिया मे निम्बा बीजो को लाकर उनकी गुठलिया को निकाल कर पुन उनको विशुद्ध कर उनका चूर्ण बनाना चाहिए फिर किसी बर्तन म रखकर पकाना चाहिए। इसी द्रव से फलको पर प्लास्टर करना चाहिए। यदि निम्बा-बीज न मिल रहे हो तो शालि भक्त का प्रयोग करना भी उपादेय प्रतिपादित किया गया है।

पट भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो के अनुसार इस पर भूमि-बन्धनो की प्रक्रिया के नाना अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण-की दिशा मे यह पट्ट-भूमि-बन्धन के ही समान है।

प्राचीन भारत मे तथा पूर्व एव उत्तर मध्यकालीन भारत म पट-चित्रो का बडा प्रसार था। बौद्ध-ग्रन्थो जैसे सयुत्त-निकाय विशुद्धि मग्ग महावश, मञ्जुश्री मूलकल्प ब्राह्मण ग्रन्थो मे जैसे वात्स्यायन काम-सूत्र म, भास के दूत-वाक्य मे, माधवचार्य की पचदशी म इस प्रकार के नाना सदर्भ प्राप्त होते है।

उडीसा, पट चित्रो का प्राचीन काल से केन्द्र रहा है। पुरी के भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्रो का सकेत हम कर चुके हैं। वैष्णव धर्म मे वास्तव में पट चित्रों का बडा माहात्म्य है। इस का भी हम पहले ही हयशीर्ष पचरात्र के प्रवचन के उद्धरण से इस के प्रोल्लास की ओर सकेत कर ही चुके हैं। जिस प्रकार उडीसा में इस वैष्णव पीठ (जगन्नाथपुरी) पर पट चित्रो की बडी महिमा है उसी प्रकार राज-स्थान के वैष्णवी पीठ श्रीनाथद्वार मे भी इन पट-चित्रो की महिमा है।

हमने अपने Hindu Canons of Painting or Citra Laksanam" तथा Royal Arts—Yantras and Citras मे इस समरागणीय भूमि-बन्धन की जो तुलनात्मक समीक्षा और चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो तथा स्मारको के सम्बन्ध म विश्लेषण किया है, वह विस्तार से वहीं द्रष्टव्य है।

चित्राधार एव चित्र-मान —भूमि-बन्धन के उपरात बिना आधार एव प्रमाण के चित्र की रचना असभाव्य है । समरागण-सूत्रधार मे इस विषय पर दो अध्याय हैं (देखिए अण्डकप्रमाण एव मानोत्पत्ति) । अण्डक का अर्थ चित्र-शास्त्र की दृष्टि से लगाना मेरे लिये बडा ही कठिन था । अन्ततोगत्वा जो मैंने इसकी व्याख्या की उसको देख कर इस देश के विद्वद्रत्नो यथा म० म० वासुदेवविष्णु मिराशी, उन्होने इस पर बडी प्रशसा प्रकट की जो शब्द बिलकुल अपरिज्ञेय थे उनको सूझ-बूझ के द्वारा जो व्याख्या दी गई है, उससे पारिभाषिक शास्त्रो के अनुसधान एव अध्ययन में बडा योग-दान मिला है । अण्डक का अर्थ हम ने बादामा माना क्योंकि अण्ड और बादाम एक ही आकार के दिखाई पडते हैं । वसे तो अण्डक का अर्थ वास्तु कला की दृष्टि से Cupola है लेकिन तक्षण एव मूर्तिकला अर्थात चित्रकला मे मेरी दृष्टि मे यह एक प्रकार का खाका (Outline) है । जिस प्रकार से प्रासाद का अण्डक अर्थात शृग या शिखर प्रासाद-रचना का सूचक एव द्योतक है, उसी प्रकार से यह अण्डक अर्थात् बादामा तथैव प्रतिष्ठापक है ।

समरागण-सूत्रधार मे नाना अण्डको के मान पर विवरण दिये गये हैं जैसे पुरुष, स्त्री, शिशु राक्षस, दिव्य, देवता, दिव्यमानुष, प्रमथ, यातुधान, दानव नाग, यक्ष, विद्याधर आदि आदि ।

अस्तु अब इनकी तालिका प्रस्तुत करते हैं —

क्रम स०	सज्ञा	प्रमाण लम्बाई	चौडाई	विवरण
१	पुरुषाण्डक	६	५	नारिकेलफलोपम
२	वनिताण्डक	—	—	
३	शिशुकाण्डक	५	४	
४	राक्षसाण्डक	७	६	चन्द्रवत्तोपम
५	देवाण्डक	८	६	
६	दिव्य-मानुषाण्डक	६½	५½	मानुषाण्डक से ½ अधिक
७	प्रमथाण्डक	५	४	शिशुकाण्डक-सम
८	यातुधानाण्डक	७	६	दे० राक्षसाण्डक
९	दानवाण्डक	८	६	दे० देवाण्डक
१०	गन्धर्वाण्डक	८	६	

११	नागाण्डक	८	६	,,
१२	यक्षाण्डक	८	६	,,
१३	विद्याधराण्डक	६१	४½	दे० दिव्यमानु०

अण्डक-प्रमाणो के बाद काय-प्रमाण भी चित्र-शास्त्र मे अत्यन्त उपादेय माने गये हैं। उनके भी प्रमाण निम्न तालिका मे सूच्य हैं

व्यक्ति-विशेष	प्रमाण लम्बाई	चौडाई	विवरण
१ देव	३०	८	
१ असुर	२६	७½	
३ राक्षस	२७	७	
४ दिव्य मानुष	—	—	
५ मानव			
अ पुरुषोत्तम (उत्तम)	२४½	६	
ब मध्यम-पुरुष (मध्यम)	२३	५½	
स कनीय-पुरुष (कनिष्ठ)	२२	५	
६ कुब्ज (कूबड)	१४	५	
७ वामन (बौना)	७½	५	
८ किन्नर	७½	५	
९ प्रमथ	६	४	

समरागण सूत्रधार मे नाना रूपो के भी बडे ही मनोरजक प्रकार, वर्ग एव विधायें प्राप्त होती हैं। उन सब की निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है।—

	जातिया	विधा
१	देव	त्रिविध—सुरज, कुम्भक
२	दिव्य-मानुष	एकमात्र—दिव्यमानुष
३	असुर	त्रिविध—चक्र, मुत, तीणक
४	राक्षस	त्रिविध—दुर्दर, शकट, कूर्म
५	मानव	पच-विध—हस, शश, रूचक, भद्र, मालव्य
६		द्विविध—मेष, वृत्ताकर
७	वामन	त्रिविध—पिण्ड, स्थान, पद्मक
८	प्रथम	त्रिविध—कूष्माण्ड, कवट, तिर्यक
९	किन्नर	त्रिविध—मयूर, कुवट, काद्य

१०	स्त्री	पचविधा—बलाका, पौरुषी, वत्ता, दडा,
११	गज—जगमत	चतुर्विध—भद्र, मन्द, मग, मिश्र
	जीवनाश्रय	त्रिविध—पर्वताश्रय, नद्याश्रय, उपराश्रय
१२	अश्व (रथ्य)	द्विविध—पारस, उत्तर
१३	सिंह	चतुर्विध—गिखराश्रय, विलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय
१४	व्याल	षोडश-विध —
	हरिण	गण्डक
	गध्रक	गज
	शशक	क्रोड
	कुक्कुट	अश्व
	सिंह	महिष
	शार्दूल	श्वान
	वक	मर्कट
	अजा	खर

टि० —*यह रूप तालिका समरागण-सूत्रधार को छोडकर अन्य किसी भी चित्र-ग्रथ मे प्राप्य नहा। विष्णु धर्मोत्तर, जो इस चित्र विद्या का सब प्राचीन एव प्रतिष्ठापक ग्र थ है उसमे केवल सकेत मात्र है, तालिका एव विवरण नहीं मिलते।*

यह अण्डक एव काय प्रमाणादि सब एक प्रकार से शास्त्रीय रूढियां (Conventions) हैं। अण्डक आदि प्रमाण तथा काय आदि प्रमाण यह सब एक प्रकार से चित्र म चि य के उदभावक हैं। यदि हम किसी महापुरुष जसे भगवान बुद्ध तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम को हम चित्र मे चित्रित करना चाहते हैं तो उन्हें हम आजान-बाहु तथा अन्य महापुरुष-लाछनो से *लाछित यदि नही करते है तो कैसे ऐसे महापुरुषो के चित्र चित्र्य हो सकते है?* सभी महाराजे, अधिराजे भी इसी प्रकार के महापुरुषो तथा दिव्य देवो के सदृश तेजो-मडल से विभावित किए जाते हैं। रेखाओ से भी इन्हें लाछित किया जाता है। मुखाकृति, शरीराकृति आदि के अतिरिक्त, कुन्तल केश, वेष, वस्त्र, आयुध—अस्त्र-शस्त्र भी तो यथा पुरुष वैसा ही चित्र—उसी म यह सब चिन्ह हैं।

इसी प्रकार किस पुरुष अथवा नारी या पशु और पक्षी, देवता अथवा देवी के अंगो प्रत्यगो उपागो का निमाण किस प्रकार करना चाहिए और उसका आकार कैसा होना चाहिए प्रमाण—लम्बाई ऊचाई, मोटाई, गोलाई कैसी करनी चाहिए ? किस चित्र म अक्षि धनुषाकार अथवा मत्स्योदर-सन्निभा बनाना चाहिए या पद्माकृति मे बनानी चाहिए इन सब की प्रक्रिया चित्र पर आश्रित है। यदि प्रेमी और प्रेमिका के अक्षियो का चित्रण करना है तो उनकी आख मत्स्योदर सन्निभा विहित है। शात-मुद्रा, ध्यान मुद्रा म अक्षि का आकार धनुषाकार बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर म राजाओ महाराजाओ पितरो, मुनियो ऋषियो आदि की किस प्रकार की वेष भूषा करनी चाहिए—यह सब उस ग्रन्थ मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है। हमने अपने ग्रन्थ मे समरागण-सूत्रधार के लक्षणो म इन विवरणो की पूर्ण रूप से समीक्षा की है जो हमारे Hindu canons of Painting or Citralaksanam तथा Royal Arts—Yantras and Citras मे विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

अस्तु अब मानाधार—इस स्तम्भ के अध-शीर्षक के क्षेत्र पर हमने थोडा प्रकाश डाल दिया है, अब चित्र-मान पर विचार करना है। भारतीय स्थापत्य की दृष्टि म चित्र के षडग मे रूप भदो के बाद प्रमाणो का महत्वपूर्ण स्थान आता है। वस तो समरागण-सूत्रधार, विष्णु-धर्मोत्तर तथा अपराजित-पृच्छा ऐसे बृहद्-ग्रन्थो मे चित्र-मान पर काफी विवरण प्राप्त होते है, परन्तु मानसोल्लास मे चित्र प्रमाण प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) पर बडा ही पारिभाषिक वैज्ञानिक तथा प्रौढ विवरण प्राप्त होता है। मानसोल्लास का सबसे बडी देन फलक चित्र (Portrait Paintings) हैं। इन चित्रो के निर्माण के लिए मान-सूत्रो का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है—ब्रह्मसूत्र (Plumb lines) तथा दो पक्ष सूत्र। ब्रह्मसूत्र यथा नाम केशान्त अर्थात मस्तक से यह रेखा प्रारम्भ होती है और दोनो आखो की भौहो के मध्य से नासिकाग्र भाग से, चिबुकमध्य, वक्ष स्थल-मध्य तथा नाभि से गुजरती हुई दोनो पादों के मध्य तक अवसानित हो जाती है। इस प्रकार यह रेखा एक प्रकार से शरीर के केन्द्र को अकित करती है जो सिर से लगाकर पाद तक खिचती है। जहा तक दो पक्ष-सूत्रो का प्रश्न है वे भी यथानाम शरीर के पार्श्वों से प्रारम्भ होते हैं। यह आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र की रेखा से दोनो ओर छै अगुल के अवकाश पर इन दोनो सूत्रो का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनो कर्णान्त से प्रारम्भ करते हैं और चिबुक के पार्श्वो से

गुजरते हुए, जानुमा के मध्य से पुन नाल तथा पाद की दूसरी अगुली, जो अगूठे के निकट होती है, वहा पर प्रत्यवमानित होती है।

इस अत्यन्त पारिभाषिक मान प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) में स्थानक-मुद्रायें अर्थात पाद-मुद्राए बडा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अतएव इन्ही सूत्रो के द्वारा जो समरागण-सूत्रधार म ऋज्वागतादि नौ स्थानो का प्रतिपादन किया गया है, उनमे मानमाल्लास की दृष्टि से निम्नलिखित पाच स्थानक-मुद्राओं को इन सूत्रो के द्वारा विहित बताया गया है —

इस ग्रन्थ मे इन स्थानक मुद्राओ को ऋजु, अधजु, साची अर्धाक्ष तथा भित्तिक की सज्ञाओ मे प्रतिपादित किया गया है।

ऋजु स्थान —सम्मुखीन मुद्रा-स्थिति से वेद्य है—जिस मे ब्रह्म-सूत्र (Central and Plumb Line) जैसा ऊपर सकेत है यहा पर भी छै अगुल का अवकाश बताया गया है।

अद्धजु क-स्थान —इसका वैशिष्ट्य यह है कि ब्रह्मसूत्र से पाश्व पर एक पक्ष-सूत्र का अवकाश आठ अगुल का है और दूसरे पार्श्व पर चार अगुल का।

साची-स्थान —इस मे विशेषता यह है कि ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर दस अगुलो का मध्यावकाश बताया गया है और दूसरे पाश्व पर केवल दो अगुलों का,

अर्धाक्षिक स्थान —इस को अन्य सूत्रो के समान वैसी ही व्यवस्था दी गई है। यहा पर ब्रह्म-सूत्र से एक पाश्व पर पक्ष-सूत्र की ओर एकादश अगुल आवश्यक है और दूसरे पार्श्व पर केवल एक अगुल।

भित्तिक-स्थान —यहा पर ज्यो ही हम पहुचते हैं तो ब्रह्म-सूत्र उड गया और पक्ष-सूत्रो का आधिराज्य हो गया।

अभी तक हम चित्राधार एव मान विग्रह पर कुछ प्रतिपादन करते रहे। अब मानाधारो पर आकर पुन अन्त मे समलम्बित मानो (Vertical Measurements) की तालिका भी रक्खेंगे जिससे यह पता लगेगा कि प्राचीन भारत मे और पूर्व एव उत्तर मध्यकाल मे चित्र विद्या एव कला कितनी प्रौढ थी और चित्र-शास्त्र का कितना प्रबुद्ध पारिभाषिक विकास हो चुका था। यह सब हमारे स्थापत्य-कौशल के ही सूचक नहीं हैं, वरन् हमारे प्राचीन पारिभाषिक एव वैज्ञानिक शास्त्रो का भी प्रतिबिम्बन करते है।

समरागण सूत्रधार के मानोत्पत्ति का अनुवाद देखें, उसी के अनुरूप हम यहा पर चित्र-तालिका की उपस्थापना करते है —

८ परमाणु—१ त्रसरेणु	८ यूका—१ यव
८ त्रसरेणु—१ बालाग्र	८ यव—१ अगुल या मात्रा
८ बालाग्र—१ लिक्षा	२ अगुल—१ गोलक या कला
८ लिक्षा—१ यूका	२ कला या गोलक—१ भाग

सारा शरीर शिर से पर तक ऊचाई म नौ तल है केशात से हनु तक मुख एक ताल का होता है।

ग्रीवा	४ अगुल	ग्रीवा से हृदय	१ ताल
हृदय से नाभि	१ ताल	नाभि से मेढ	१ ताल
ऊरु	२ ताल	जानु	४ अगुल
जघा	२ ताल	चरण	२ अगुल

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार शरीर की ऊचाई ६ ताल है और मौलि केशात चार अगुल है। इस प्रकार वास्तविक ऊचाई नौ ताल और ४ अगुल है अथवा साढे नौ ताल।

समलम्बित मान (Vertical Measurements)

१ मस्तक-सूत्र (Line of the Crown)

२ केशात-सूत्र —यह सूत्र मस्तक से चार अगुल नीचे से, कर्णाग्र से तीन अगुल ऊचे उठकर, शिर के चारो ओर जाती है,

३ तपनोद्देश-सूत्र उपयुक्त रेखा के नीचे दो अगुल से प्रारम्भ होती है और शख-मध्य से जाती है और कर्णाग्र के ऊपर एक अगुल से प्रारम्भ होती है

४ कचोत्सग सूत्र —एक अगुल नीचे से प्रारम्भ होकर जब भौहो के निकट से जाती है तो शीर्ष-कर्म के अन्त मे प्रत्यवसानित होती है

५- कनीनिका-सूत्र —जो अपाग-पार्श्व से प्रारम्भ होकर पिप्पली की ओर जाती है वह एक अगुल नीचे से प्रारम्भ होती है,

६ नासा-मध्य-सूत्र —दो अगुल नीचे से प्रारम्भ होकर कपोल के उच्च-प्रदेश से गुजरती हुई कर्ण मध्य मे अवसानित होती है,

७ नासाग्र-सूत्र —दो अगुल नीचे से प्रारम्भ होती है। यह कपोल-मध्य जाता हुआ कर्ण-मूल पर के श्रोतपत्ति-प्रदेश तथा पृष्ठ पर अवसानित होती है,

८ वक्त्र-मध्य सूत्र —आध अगुल नीचे से प्रारम्भ होकर स्वक्का अथवा कृकाटिका से गुजरता है,

९ अधरोष्ठ-सूत्र — यह भी आधे अगुल नीचे होता है, पुन वह चिबुक हड्डी से गुजरती हुई ग्रीवा पष्ठ पर पहुच जाती है,

१० हन्वग्र-सूत्र —तो दो अगुल नीचे मे शुरू होती है। यह ग्रीवा से गुजरती हुई क न्ध की हड्डी पर पहुचती है,

११ हिक्का-सूत्र —यह कधो के नीचे से पास होता है,

१२ वक्ष-स्थल-सूत्र —सात अगुला स नीचे से प्रारम्भ होता है

१३ विश्रमांग-सूत्र —पाच अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१४ जठर-मध्य-सूत्र —छै अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१५ नाभि-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१६ पक्वाशय-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१७ काञ्ची पाद-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० द० H C P

१८ लिंग शिर-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१९ लिंगाग्र सूत्र —पाच अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

२० ऊरू-सूत्र —आठ अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० द० H C P

२१ मान सूत्र (ऊरू–मध्य सूत्र) —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

२२ जानुमूध सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

टि० —ये तीनो (२०–२२) सूत्र जघाओ (Thighs) के बगल से गुजरने चाहियें।

२३ जान्वग्र-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होते हैं। यह भी जानु के चारो ओर से गुजरना चाहिए।

२४ ककवस्ति-सूत्र —बारह अगुल अर्थात एक ताल स नाच पाम होना चाहिये ;

२५ नलकात सूत्र दश अगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ,

२६ गुल्फात सूत्र —दो अगुत नीचे से प्रारभ होना चाहिए ,

२७ भूमि-सूत्र —चार अगुल से नीचे प्रारम्भ होता है ।

इस प्रकार इस ब्रह्म-सूत्र की लम्बाई का टोटल १०८ अगुल हो जाता है।

विशेष सूच्य यह है कि मानसोल्लास की दिशा मे भित्तक चित्र—कुड्य-चित्रो (Mural Paintings) मे केवल उपयुक्त चार स्थानो अर्थात ऋजु आदि प्रथम चार ही उपादेय हैं। पाचवा भित्तिक-स्थान यहा पर कोई महत्व नही रखता, क्योंकि वहा पर कोई भी आननाग यहा पर प्रकाश्य एव प्रदश्य नही होता।

लेप्य-कर्म

लेप्य-कर्म चित्र-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। इसमे हम रगो अथात वर्ण-विन्यास तथा पेंटो को नही गताथ कर सकत। लेप्य-कम का प्रयोग भूमि बधन मे है जिसका साहचय वर्तिका स है। और वर्ण-विन्यास जैसा हम आगे देखेंगे उसका साहचय लेखनी या तूलिका से है। पीछे भूमि-व धन-स्तम्भ मे लेप्य-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला ही जा चुका है अब यहा पर विशेष ज्ञातव्य एव प्रतिपाद्य यह है कि लेप्य किस प्रकार से निर्मित होना है। प्राचीन भारतीय चित्रकला की सर्व-प्रमुख विशेषता समस्त स्थावर-जगमात्मक ससार का प्रतिबिम्बन ही एक मात्र उद्देश्य था। अपराजित-पृच्छा का निम्न उद्धरण इस पृष्ठ-भूमि का कितने सुदर ढग से समर्थन करता है —

> कूपे जल जल कूपे विधिपर्यायतस्तथा।
>
> तद्विच्चित्रमय विश्व चित्र विश्वे तथैव च ॥

अब थोडा सा सकेत आधुनिक चित्र-कला के स्वरूप और उद्देश्य पर करना है, जिससे हमारी प्राचीन चित्र-विद्या का मूलाधार विषयीगत चित्रण (Objective representation) या वह बोधव्य हो सके, परन्तु आजकल जिन भी चित्रो को देखें उनमे चित्रकारो की अपनी subjective विषयगत भावना के द्वारा यह चित्र निर्मित होने लगे हैं, जिनको subjective representations विषयगत चित्र कह सकते हैं। मेरी दृष्टि मे यह आधुनिक चित्र-कला अपनी मूल भित्ति को ही छोड दी है। नित का नैसर्गिक प्रय प्रतिबिम्बन है अब चित्र और अग्रजी क पद - nature शास्त्रीय दृष्टि स कभी भा

पर्यायवाची नहीं हो सकते। अंग्रेजी के इस शब्द Painting के लिए पूरी छूट है जो चाहो Paint करो परन्तु चित्र के लिए तो प्रतिमा के लिए तो इस समस्त स्थावर-जंगमात्मक संसार से किसी भी पदार्थ अथवा द्रव्य को लें तो उसका तब ही चित्रण हो सकता है जब उसमें प्रतिबिम्बन पूर्ण रूप से मुखरित हो जाए। अस्तु इतनी सूक्ष्म समीक्षा पर्याप्त है। अब आइये लेप्य कर्म की ओर।

लेप्य कर्म—समरांगण-सूत्रधार के लेप्य-कर्म-शीर्षक अध्याय में लेप्य-प्रक्रिया का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विधान प्रतिपादित किया गया है। पहले तो लेप्य के लिए किस प्रकार की मृत्तिका अपेक्षित होती है, उसके बड़े पुष्कल विवरण दिए गये हैं कि यह मिट्टी किन किन स्थानों, स्थलों एवं तटों से लाई जाए। पुनः जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं वर्तिका और भूमि-बन्धन एक दूसरे के क्रमशः साधन एवं साध्य हैं। किस प्रकार से वर्तिका बनाई जाती है और किस प्रकार से लेप्य बनाया जाता है यह सब विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड-अनुवाद में देखें।

स० सू० में लेप्य एक मात्र मार्तिक प्लास्टर अर्थात् मार्तिक लेप्य के विवरण दिए गए हैं, परन्तु वि० ध० में तो ऐष्टिक प्लास्टर (Brick Plaster) अर्थात् शैलेय प्लास्टर की विशेष महत्ता दी गई है। यह लेप्य-कर्म वि० ध० में वज्र-लेप के समान दृढ बताया गया है। डा० कुमारी स्टैला क्रैमरिश ने वि० ध० के इस चित्र-प्रकरण का अनुवाद किया है उसका अवतरण विशेष संगत नहीं है।

मानसोल्लास में भी इसी प्रकार के लेप का प्रतिपादन है जिसकी संज्ञा वज्रलेप के नाम से दी गई है।

स्निग्धानुलेपन (Ointment)—जहां तक Ointment का प्रश्न है वह एक प्रकार से किसी भी आलेख्य के लिए जो भूमि बन्धन (कुड्य भूमि बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन अथवा पट भूमि-बन्धन) लेप्य-कर्म के द्वारा बनता है, उसका दूसरा सोपान स्निग्धानुलेपन (Ointment) है। वह एक प्रकार से अपनी भाषा में मर्दन एवं प्रोज्ज्वलन के नाम से प्रकीर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार से लेप्य-कर्म में पहला सोपान मृत्तिका-बन्धन है। दूसरा सोपान जो ointment के नाम से हम पुकारते हैं वह एक प्रकार का सुधा-बन्धन अथवा रस बन्धन अथवा वर्ण बन्धन है। प्रथम बन्धन तो मौलिक है और ये तीनों बन्धन एक प्रकार से इस बन्धन में वैशिष्ट्य सम्पादन के लिए प्रकीर्तित किए गए हैं जो भूमि बन्धन

की प्रोज्ज्वलता सम्पादनार्थ हैं। अतएव शिल्प-रत्न का निम्न प्रवचन इसी तथ्य का प्रतिष्ठापक एव पोषक है —

एव धवलित भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत '

वर्ण और लेखनी तथा छाया और कान्ति
(क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त)

स० सू० के चित्राध्याया म वर्णों प्रधान् रगो के प्रवचन नही प्राप्त होते। इसम एक मात्र सामान्य सन्दर्भ प्राप्त होता है। वि० ध० मे तथा शिल्प-रत्न मे वर्णों के सम्बन्ध म विशेष विस्तार है और जहा तक मानसोल्लास की बात है वहा तो यह वर्ण-विन्यास-प्रक्रिया और भी अधिक प्रकृष्ट रूप मे परिणत हो गई है।

वि० ध० मे वर्णों की दो कोटिया प्रतिपादित की गइ है, पहली कोटि में रक्त शुभ्र पीत कृष्ण तथा हरित रगो को प्रधान रग Primary Colours माना है। दूसरी कोटि मे शुभ्र पीत कृष्ण नील तथा गैरिक (Myrobalam) ये जो भरत के नाट्य-शास्त्र मे प्रधान रग प्रतिपादित किए गये है, वे ही वि० ध० म पाए गए है। शिल्प-रत्न और मानसोल्लास मे जिन पाच रगो का वर्णन किया गया है, उनम भी कुछ वैमत्य है। शिल्प-रत्न मे शुभ्र रक्त, पीत (Suit) तथा श्याम मान गये हैं। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि म शुभ्र शख से निर्मित, रक्त सीसा अथवा अलक्तक द्रव अर्थात् लाख अथवा लाल खडिया यानी गेरू से बनता है। हरिताल (Green Brown) तथा श्याम य ही इस ग्रन्थ मे माने गए हैं।

जहा तक वर्णों का मिश्रण है वह तो चित्रकार पर आश्रित है। वर्णों के विन्यास म छाया कान्ति एव प्राज्ज्वलता तथा आकर्षण प्रदान करने के लिए स्वर्ण, रजत ताम्र पीतल रक्ताभ, सीसा, ईगुर, सिंदूर, टिन इत्यादि नाना द्रव्यो का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इस उपोदघात् के अनन्तर अब इस विषय पर विशेष विवरण प्रस्तोव्य हैं क्योंकि यह सब कुछ आ जाए तो आलेख्य चित्र के लिए वर्ण-विन्यास ही मौलि-मालायमान कर्म है। वर्ण-विन्यास मे मूल रग अथवा शुद्ध वर्ण, अन्तरित रग, अथवा मिश्र वर्ण-वर्ण द्रव्य, स्वर्ण-प्रयोग— ये सब विवेच्य हैं। पुन हम तूलिका लेखनी एव वर्तना, जो वर्ण-विन्यास (साध्य) के साधन हैं उनपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

मूल-रग (शुद्ध-वर्ण)—हमने इस उपोदघात मे विष्णु-धर्मोत्तर आदि की वरण-तालिकाओ का सकेत किया ही है तथापि जहा विष्णु-धर्मोतर मे पाच मूल रगो की तालिका मिलती है वहा अन्य ग्रन्थो म मूल रगो की सख्या केवल चार ही मिलती है। पाश्चात्य चित्र कला मे मूल रगो की सख्या तीन ही है अर्थात रक्त, पीत, नील। हमारे यहा शुक्ल को जोडकर चार की तालिका बना दी है। एक बात और विवेच्य है कि काला और नीला एक जैसा नही माना जा सकता। अभिलषिताथ चिन्तामणि म जो नीली की परिभाषा दी गई है वह इस विभेद को हमारे सामने साक्षात उपस्थित कर देती है —

"केवलैव च या नीली भवेदिन्दीवरप्रभा

इस लिए यह नीली कृष्ण से एक प्रकार से बिल्कुल विभिन्न है, क्योकि कृष्ण कज्जल-सम कहलाता है। इस प्रकार इन पाच मूल रगो अर्थात शुद्ध वर्णों के पृथक पृथक चषक (प्याले) रक्खे जाते थे। इनका प्रयोग शुद्ध वर्णों तथा मिश्रित वर्णों दोनो के लिए किया जाता था।

वैसे तो अपराजित-पृच्छा म भी चार ही मूल रग है, परन्तु उसकी नवीनता अथवा उद्भावना यह है कि ये वण नागर, द्राविड आदि चारो शैलिया पर आश्रित हैं। अत यह विवरण यहाँ पर न लेकर आगे के स्तम्भ (चित्र-शैलिया) मे लेगे। अब आइये अन्तरित रगो अथवा मिश्र-वर्णों पर।

अन्तरित-रग (मिश्र-वर्ण) —ये वण वर्णो के परस्पर सयोजन अथवा मिश्रण से उत्पन्न होत है। अभिलषिताथ-चिन्तामणि का निम्न उद्धरण पढिये तो हमे इन मिश्रित वर्णों की कैसी सुषुमा निखरती हुई देख पडेगी। शिल्प-रत्न तथा शिव-तत्त्व-रत्नाकर मे भी मिश्र वर्णों के बडे ही सुन्दर विवरण प्राप्त होते है। बाण की कादम्बरी पढिए तो वहा पर ऐसा मालूम पडता है कि सारे के सारे पन्ने मूल रग तथा मिश्रवण दोनो से रगे पडे हैं। आज तक शायद ही किसी ने परम्परागत उक्ति— "बाणोच्छिष्ट जगत्सवम्' का ठीक ठीक अथ लगाया हो। बाण के मस्तिष्क मे सम्पूर्ण स्थावर-जगमात्मक ससार करामलकवत् था। अतएव यह उक्ति इस पारिभाषिक एव वैज्ञानिक चित्र-शास्त्र के परिशीलन से परिपुष्ट प्राप्त होती है। बाण ने तो गजब ढा दिया कि काले, पीले, हरे भूरे, लाल, नील सुनहरे, गेरुए सफद कपोताभ आदि आदि शतश रगो की केलि इस कादम्बरी-क्रीडास्थली मे देखने को मिलती है। आगे इस अध्ययन के

परिशिष्ट भाग मे हम महाकवि कालिदास, बाण श्रीहर्ष आदि आदि अनेक कवियो के काव्यो की सदर्भ-तालिका का उद्धरण देंगे जिस से इस वर्ण-महिमा पर लक्षण एवं लक्ष्य से पूरी पूरी समीक्षा हो सकेगी। अब हम यथा प्रतिज्ञात यहा पर अभिलषितार्थ चिन्तामणि का उद्धरण प्रस्तुत करते है

शुद्धवर्णा —पूरयेद्वर्णकै पश्चात तत्तद्रूपाचितैस्स्फटम्।
उज्ज्वल प्रा नते स्थाने श्यामल निम्नदेशत ॥
एकवर्णार्पित कुर्यात्तारतम्यविभेदत ।
अधश्चेदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलता व्रजेत् ॥
भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्ना वर्ण प्रयुज्यते ।
मिश्रवर्णेषु रूपेषु मिश्रो वर्ण प्रयुज्यत ॥
श्वतेषु पूरयेच्छख शोणेषु दरद तथा ।
रक्तेष्वलक्तकरस लोहिते गरिक तथा ।
पीतेषु हरिताल स्यात्कृष्ण कज्जलमिष्यत ।
शुद्धा वर्णा इमे प्राक्ताश्चत्वारश्चित्रसश्रया ।

मिश्रवर्णा —मिश्रान वर्णानितो वक्ष्ये वर्णसयोगसम्भवान् ।
दरद शखसम्मिश्र भवत्कोकनदच्छवि ॥
अलक्त शखसम्मिश्र धूमच्छाय निरूपितम् ।
हरिताल शखयुत मेरमत्व ? सदृशप्रभम् ॥
कज्जल शखसम्मिश्र धूमच्छाय निरूपितम् ॥
नीली शखेन सयुक्ता कपोताभा विराजते ।
राजावर्तस्य एवायमतसीपुष्पसन्निभ ॥
केवलैव हि या नीली नीलेन्दीवरप्रभा ।
हरितालेन मिश्रा सेज्जायत हरिच्छवि ॥
गरिक हरितालेन मिश्रित गौरता व्रजत् ।
कज्जल गैरिकोपेत श्यामवर्ण निरूपितम् ।
अलक्तकेन ससृष्ट कज्जल पाटल भवेत् ।
अलक्त नीलिकायुक्त कवु वर्ण भवेत स्फुटम् ॥
एव शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदा प्रकीर्तिता ।

रग-द्रव्य —विष्णु-धर्मोत्तर मे नाना-विध रग द्रव्यो का प्रतिपादन है—कनक रजत ताम्र, अभ्रक, राजावर्त (हीरक—अर्थात हीरे की विराट-

देशोद्भवा विधा), त्रपु, हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील और लाहा। विष्णु-धर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़ें जिससे न केवल रग द्रव्यों की तालिका ही नहीं मिलेगी, प्रत्युत ये रग-द्रव्य किन किन अन्य द्रवों के सयोग एव मिश्रण से उत्पन्न होते हैं, यह भी यहां पर परशीलनीय है —

> रगद्रव्याणि कनक रजत ताम्रमेव च।
> अभ्रक राजवन्त च सिन्दूर त्रपुरेव च॥
> हरिताल सुधा लाक्षा तथा हिंगलुक नप।
> नील च मनुजश्रेष्ठ तथान्ये म त्यनेकन॥
> देशे देश महाराज कार्यास्त स्तम्भनायुता।
> लोहाना पत्रविन्यास भवेद्वापि रमक्रिया॥
> सकट लोहविन्यस्तमभ्रक द्रावण भवन।
> एव भवति लोहाना लेखने कमयोग्यता॥
> अभ्रकद्रावण प्रोक्त सुरसेन्द्रजभूमिज।
> चम्पाकुयोऽथ बकुला निर्यासस्तम्भनाद्भवत्॥
> सर्वेषामव रगाणा सिन्दूरक्षीर इष्यते।
> मातगदूर्वारसप वद्धै सस्तम्भित चित्रमुदारपुञ्जै।
> धौत जलेनापि न नाशयत् तिष्ठत्यनेकान्यपि वत्सराणि॥

अत्र यहा पर जो विशेष विवचनीय विषय है वह यह है कि विष्णु-धर्मोत्तर का राजावन्त क्या चीज है—कौन सा रग है? परशियन चित्र-पदावली मे एक लाजवर्दी नाम बड़ा विश्रुत है। डा मोती चन्द्र ने इस रग को परशिया की देन माना है, परन्तु मेरी दृष्टि में यह धारणा भ्रान्त है। राजावन्त प्रथवा राजावत जो सस्कृत तत्सम शब्द है उसी का तद्भव एव अपभ्रंश लजावर है जो आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी इलाकों मे विशेषकर गोरखपुर म नील (Blue par-Excellence) माना जाता है। अजन्ता के चित्रो मे जो इस राजावन्त (नीली) का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई पडता है वह हमारे देश की ही विभूति है। उसमें परशिया (फारस) का कोई श्रेय नहीं। इसी प्रकार बगाल के दशवीं तथा दशमोत्तर शताब्दियों के प्रज्ञापारमिता-चित्रों मे भी इस राजावन्त का ही परम-कौशल है। कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा जो हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं और जो इस नीले रग (राजावन्त) से रगे गये हैं वे भी सब हमारी इस रग-परपरा के निदर्शन हैं। अब आइये वर्ण विन्यास मे स्वर्ण-प्रयोग पर।

स्वर्ण-प्रयोग —चित्र, जैसा हम ने पहले ही प्रतिपादित किया है, वह आलेख्य और तक्षण दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे प्रतिमा-विज्ञान में प्रतिमा-द्रव्य-वर्ग पर दृष्टिपात करें तो धातुजा अथवा धातूत्था प्रतिमाओं का कितना विलास था। अतः प्राचीन भारत में प्रतिमा और आलेख्य दोनों में धातु का प्रयोग बड़े परिमाण में किया जाता था। जहां तक चित्र का सम्बन्ध है, वहां स्वर्ण (The metal par exvellence) का प्रयोग प्राचीन चित्रकारों की एक गहरी हाबी थी जिस से चित्रों की अभिख्या, प्राञ्जलता कान्ति, दीप्ति, वर्ण-प्रकर्षता अपने आप निखर उठती थी। स्वर्ण प्रयोग के द्वारा इन सभी चित्रों—कुड्य फलक तथा पट में चित्र्य की वेष-भूषा आकृति—अंगोपांग सभी अपने आप निखर उठते थे।

गान्धार की बुद्ध-प्रतिमाओं में स्वर्ण-प्रयोग सिद्ध होता है। कहां तक अजन्ता, एलोरा, बाघ बादामी आदि चित्र-पीठों में स्वर्ण का प्रयोग हुआ कि नहीं यह एक समीक्ष्य विषय है। अब आइये स्वर्ण-प्रयोग की प्रक्रिया पर। यह प्रक्रिया द्विविधा है —

१ पत्र-विन्यास तथा
२ रस-क्रिया।

पत्र-विन्यास —पुराने चित्रों को देखेंगे तो उनमें स्वर्ण-पत्रों का प्रयोग होता आया है।

रस-प्रक्रिया —स्वर्ण को पहले तपाया जाता था, एवं जब वह द्रव रूप में परिणत हो जाता था, तो उसमें फिर अभ्रक के साथ कुछ क्वाथ एवं निर्मास भी मिलाये जाते थे जैसे—चम्पा-क्वाथ, वकुल क्वाथ।

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा शिल्प-रत्न में वर्णों में स्वर्ण-योग तथा स्वर्ण-लेख-विधि के बड़े सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं जो यहां पर उद्धरणीय है—

शुद्ध सुवर्णपत्रं शिलायां परिपोषितम् ॥
कृत्वा कांस्यमये पात्रे गालयेत्तं मुहुर्मुहुः ।
क्षिप्त्वा तोयं सदालोड्य निर्हरेत्तज्जलं मुहुः ॥
यावच्छिन्नारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नतः ।
यत्नात्कल्मस्तरणं हेम न याति सह वारिणा ॥
आस्ते तदमलं हेम बालार्करुचिरच्छवि ॥
तस्मात्तं हेमजं स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत् ।

Vrdhi was as intensely studied by the ancient Indian painters as was perspective by the early Italian masters Pramana on the other hand was the standardized canon, valid for the upright standing figure and to be modified by every bent and turn

वतना की इस मौलिक पृष्ठ-भूमि के विश्लेषण के उपरान्त अब हम उसके प्रकारो पर उतरते हैं।

वतना-प्रभेद—त्रिविधा

१ पत्रजा (Cross lines)

२ एरिक (Stumping)

३ विन्दुज (Dots)

कोई भी चित्रकार चित्र्य के लिए प्रथम रेखा-वतन करता है। प्रथम रखा या तो पीताभ या रक्ताभ खीची जाती है। विष्णुधर्मोत्तर तथा भरत-नाट्य-शास्त्र दोनो ही यही समथन करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़िये—

'स्थान प्रमाण भूलम्बो मधुरत्व विभक्तता'

इससे यह पूर्ण सिद्ध होता है कि चित्र मे चित्र्य के सभी अवयवो आदि की प्रोज्ज्वलता क लिए ये सब प्रमाण लावण्य, विभक्ता आदि विन्यास अनिवाय हैं। महाकवि कालिदास की निम्न उपमा-उत्प्रेक्षा (दे॰ कुमार-सभव) को पढिए।

उन्मीलित तूलिकयेव चित्र वपुर्विभक्त नवयौवनेन'

यहा पर 'विभक्त' शब्द कितना मार्मिक है—जो चित्र-सिद्धान्त को कितना ऊचे उठाता है। अन्त मे यह भी समीक्ष्य है कि वतना के द्वारा वर्ण-विन्यास ही चित्र्य का वैषयिक एव विषयिक (Subjective and Objective) प्रस्फोटन कर देता है। आकाश का चित्रण प्राकृतिक अर्थात विषयिक अथवा आनुमानिक अर्थात् वैषयिक दोनो सभव हैं—वह सब वतना पर ही आश्रित है।

चित्र-निर्माण-रूढिया

(Conventions in Painting)

प्रतीकात्मक-रूढि-अवलम्बन-परम्परा —चित्र्य को कैसे चित्रित किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर मे आदशवाद (Idealism) तथा यथाथवाद (Realism) दानो का सहारा लिए बिना शास्त्रीय चित्र-निर्माण-रूढियो पर पूर्ण प्रतिपादन असम्भव है। सभी ललित कलाये काव्य, नाटक सगीत, नृत्य एव चित्र आदर्शवाद के उत्तुग प्रकष से ही नही प्रभावित हैं, वरन् सास्कृतिक

परम्पराओ एव रूढियो का भी वहा पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। जिस देश की जैसी संस्कृति एव सभ्यता, जैसा जीवन एव रहन सहन, जैसी विचार-धारा तथा परम्पराये एव रूढिया वैसी ही उस देश की कलाये। यथार्थवाद कोई फोटोग्राफिक अर्थात प्रातिबिम्बिक प्राभास नही न तो आदर्शवाद यथार्थवाद का पूर्ण घातक या विरोधक। इन ललित कलाओ मे यथार्थवाद भी अपनी अपनी कलाओ के द्वारा अवश्य प्रभावित रहता है और आदर्शवाद उनको ऊपर उठाता है, तभी इन दोनो के मिश्रित प्रभाव से ये कलाए वास्तव मे प्रोल्लसित एव प्रवृद्ध बनती हैं। तक्षण का कौशल (देखिए सजीव-प्रतिमाए) चित्रकार का दाक्ष्य (देखिये सजीव चित्र) सब उपयुक्त उपोद्घात का समर्थन करते हैं। शिशुपाल-वध (३ ५१) का श्लोक पढिये—जहा मार्जार प्रतिमा वास्तव मे सजीव मार्जार का सा वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रघुवश (१६ १६) का श्लोक पढिये वहा भी सिह हाथियो को मानो सजीव सा मार रहे हैं। इसी प्रकार अन्य नाना साहित्यिक एव पुरातत्वीय सन्दर्भ एव निदर्शन भी कलायें यथार्थवाद का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। चित्रो के विद्ध अविद्ध सत्य वैणिक आदि वर्गो पर हम ऊपर लिख चुके हैं। इनमे विद्ध या सत्य एक प्रकार से दर्पणवत यथार्थता का प्रतिबिम्बन करते हैं। इस प्रकार के चित्र्य-चित्रण वास्तव मे प्रमाण, भू-लम्ब, सादृश्य भाव योजना वर्णिका भग एव रूप-भेद इन षडगो से ही यह प्रोल्लास प्रथित होता है। शिवतत्व-रत्नाकर तथा महाभारत के निम्न प्रवचन पढे तो इस उपोद्घात का अपने आप पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है —

पूरयेद्वर्णत पश्चात्तत्तद्रूपोचित यथा।
उज्ज्वल प्रौन्नते स्थाने श्यामल निम्नदेशत ।
एकवर्णेऽपि त कुर्यात्तारतम्यविशेषत । शि० र०
प्रकीर्णे चित्रपरिचये यथा भ ―गो व्यासस्य —
'अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणा ।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जना ॥"

इसी प्रकार के काव्य लक्ष्योदाहरण जैसे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे धनपाल की तिलक-मञ्जरी मे भी यही चित्र धारणा है। ति० म० का निम्न पद पढें —

"दिनकरप्रभेव प्रकाशितव्यक्तनिम्नानतविभागा"

इसी प्रकार जैसा ऊपर कहा है अन्य साहित्यिक सन्दर्भों मे भी ऐसे अनेक और उदाहरण मिलते हैं। इस लक्षण का काव्य-मय विलास ही नही, स्थापत्य-निदर्शनो म जस अजन्ता, बाघ, सित्तानवसल अथवा तंजौर आदि प्राचीन प्रासाद-चित्र पीठो पर भी यहन महा विलास एव प्रोल्लास प्राप्त होता है। अत शिल्प-ग्रन्थों मे क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त का जो प्रतिपादन है, वहाँ स्थापत्य मे भी पूर्ण प्रतिबिम्बन है।

अब प्रश्न यह है कि बिना रूढि-अवलम्बन (Adopting the Technique of Conventions) यह क्षय-वृद्धि, सादृश्य, भूनम्र एव प्रमाण आदि षडग-चित्र का पूर्ण विधान कैसे सम्भव हो सकता है ? बिना रूढि-अवलम्बन (Conventions) के यह सर्व-प्रमुख अंग (क्षय-वृद्धि) मुखरित ही नहीं होता। सत्य तो यह है कि रूढि-अवलवन ही क्षय-वृद्धि का प्राण है, जिस से यथार्थवादी चित्र पनप सका। दिव्य प्रतिमा के केश कैसे दिखायें, आखो का स्पन्दन कैसे विलसित हो, शरीर का घेरा, मोटाई ऊंचाई विशालता आदि प्रमाण कैसे अकित हो सकते है—इन सब के लिए यह सिद्धान्त सापेक्ष्य-रूढि-अवलम्बन से तात्पर्य प्रतीकत्व कल्पन है। जिस प्रकार काव्य म ध्वनि का Suggestion कहते हैं, उसी प्रकार यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन चित्र मे ध्वनि ही है। जिस प्रकार काव्य म शब्दालकारादि की चमक केवल उसको कान्ति तो दे सकती है परन्तु व्यञ्जना नही। व्यञ्जना ही उसे नीचे से उठा कर उत्तुंग शिखर पर केलि करा देती है। इसी प्रकार चित्र म यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक प्रकार की व्यञ्जकता ही है जो चित्र को एक मात्र मदुता ही नही प्रदान करती वरन् नाना व्यग्यो का प्रेक्षको को आभास भी दिलाती है।

विद्वान् स्मरण करें कि जिस प्रकार काव्य म व्यक्ताव्यक्त-कामिनी-कुच-कलश के समान अलकार एव ध्वनि की विनिवेश-समीक्षा है उसी प्रकार प्रतीकात्मक-रूढि-अवलम्बन-परम्परा चित्र मे भी यही विलास उपस्थित करती है।

प्रतिमा-स्थापत्य को भी देखे, जिनमे मुद्राओ (शरीर, पाद, हस्त मुद्राओं) के द्वारा समस्त ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, आशीष, भत्सन, मगल, वरदान आदि सभी इसी प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन से सब व्यञ्जित हो जाता है। अस्तु, इस उपोद्‌घात् का, हम विष्णु-धर्मोत्तर तथा स० सू० के निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा समर्थन स्वत प्राप्त कर जाते हैं —

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रलोक्यानुकृति स्मृता।

दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वश ॥
कराश्च ये महा (मया?) नर्त्त पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।
त एव चित्रे विनेया नृत्त चित्र परं मतम ॥
हस्तेन सूचयन्नथं दृष्टया च प्रतिपादयन् ।
सजीव इति दृश्यत सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।

इस उपोदघात के अन्त मे हमे पुन चित्र के सावभौमिक क्षेत्र पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है —

जगमा स्थावराश्चव ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते ॥

जब चित्र का इतना बडा विस्तार है तो बिना रूढियो के अवलम्बन, बिना प्रतीकत्व-कल्पन यह सब कैसे चित्र्य हो सकता है ?

रूप-निर्माण —विष्णु-धर्मोत्तर मे रूढि निर्माण का बडा ही बहुत प्रतिपादन है। दैत्य, दानव यक्ष किन्नर देव, गन्धव, ऋषि, राजे महाराजे अमात्य, ब्राह्मण किस प्रकार से चित्र्य हैं और उनके चित्रण म कौन कौन स सिद्धान्त जैसे प्रमाण, सादृश्य, क्षय वृद्धि एव प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन आवश्यक हैं—यह सब विधान निम्न तालिका से स्वत स्पष्ट हो जाता है —

	चित्र	वैशिष्टय
१	ऋषि-गण	जटाजूटोपशोभित, कृष्ण-मृग चम धारण किए हुए दुबल एव तेजस्वी ,
२	देव तथा गन्धव	शेखर-मुकुट धारण किए हुए , टि० श्री शिव राममूर्ति ने वि० ध० के 'शिखिरै रूपशोभिता " को नही समझा , अतएव अर्थ नहीं लगा सके। यह पद भ्रष्ट है अत यह शेखरैरूपशोभिता ' होना चाहिए—देखिए मानसार वहा पर शेखरो की नाना विधाओं मे शेखर-मुकुट भी एक विधा है।
३	ब्राह्मण	ब्रह्मवर्चस्वी एव शुक्लाम्बरधारी।
४	मन्त्री साम्वत्सर तथा पुरोहित	ये मुकुट-विहीन एव सर्वालकरो से युक्त तथा ठाठ बाठ के कपडो से परिवेष्टित हों, इनके साफा जरूर बधा हुआ होना चाहिए ,

५	दैत्य तथा दानव	भकुटि-मुख, गोल-मटोल तथा गोल आख वाले, भयानक एव उद्धत-वेश-धारी,
६	गन्धर्व तथा विद्याधर	सपत्नीक, रुद्र प्रमाण, माल्यालकार-धारी खड्ग-हस्त, भूमि पर अथवा गगन मे ,
७	किन्नर—द्विविध	नवव-कृत्र (नरमुख) तथा अश्वमुख—दोनो ही रत्न-जटित, सर्वानिकार-धारी एव गीत-वाद्य-समायुक्त तथा द्युतिमान,
८	राक्षस	उत्कच, विकलाक्ष एव विभीषण,
९	नाग	देवाकार फण-विराजित,
१०	यक्ष	सर्वालिकारलकृत टि० सुरो के प्रमथ-गण तथा पिशाच ये दोनों प्रमाण-विर्वजित हैं।
११	देवो के गण	नाना-सत्व-मुख, नाना-वश-धारी, नाना आयुध-धारी नाना-क्रीडा-प्रसक्त, नाना कम-कारी, टि० वैष्णव-गण एक ही कोटि के चित्र्य हैं। विशेषता यह है कि वैष्णव गण चतुर्धा हैं — वासुदेव-गण वासुदेव को सकषण गण सकपण को, प्रद्युम्न-गए प्रद्युम्न को तथा अनिरुद्ध गण अनिरूद्ध को अनुगमन करते हुए चित्र्य हैं। ये सब अपने देवता का विक्रम प्रदर्शित करें। इनकी काति नीलोत्पल-दल के समान हो और चन्द्र के समान शुभ्र हो, इनके आकार मरकत-सदृश हो और प्रभा सिन्दूर के सदृश हो,
१२	वेश्यायें	वेश उद्धत एव श्रगार-सम्मत,
१३	कुल-स्त्रिया	लज्जावती, टि० दैत्यो, दानवो और यक्षों की पत्निया, *रूपवती बनानी चाहिए। विधवायें पलित-सयुता,* शुक्ल-वस्त्र-धारिणी, सर्वालकार वर्जिता,
१४	कञ्चुकी	वृद्ध;
१५	वैश्य तथा शूद्र	वर्णानुरूप वेश-धारी,

१६ सेनापति — महाशिर, महोरस्क, महानास, महाहनु, पीन-स्कन्ध, भुज-ग्रीव, परिमाणोच्छ्रित त्रितरग-ललाट, व्योम-दृष्टि, महाकटि एव दप्त ,

१७ योधा-गण — भृकुटी-मुख, किञ्चन् उद्धत-वेश एव उद्धत-दशन ;

१८ पदाति — उछलती हुई गति स चलने वाले और आयुधो को धारण किए हुए—विशेषकर खड्ग-चर्म धारण किए हुए चित्र्य हैं। विशेष विशेषता यह है कि उनका कर्णाटक कोटि का होना चाहिए ,

१९ धनुर्धारी — नग्न जघा वाले, उत्तम बाण लिए हुए, जूते पहने हुए

२० पीलवान — श्यामवर्ण, अलङ्कृत जटधारी ,

२१ घुडसवार — उदीच्य वेश

२२ बन्दि-गण — शाही वेष वाले, परन्तु सिरा-दर्शित-कठ तथा उन्मुख दृष्टि ,

२३ आह्वानक — कपिल एव केकर के समान आख वाले ,

२४ दड-पाणि (द्वार-पाल) प्राय दानव-सकाश ,

२५ प्रतीहार — दड-धारी, आकृति एव वेश न अधिक उद्धत न शात, बगल मे खड्ग तथा हाथ मे दण्ड ,

२६ वणिक् — ऊचा साफा बाधे हुए,

२७ गायक एव नतक — शाही वेष धारी

२८ नागरिक (पौरजानपद) शुभ्र-वस्त्र-विभूषित, पलित केश एव निज भूषणो से विभूषित, स्वभाव से प्रिय-दर्शन, विनीत एव शिष्ट ,

२९ मजदूर (कर्मकर) — स्व-स्वकर्म-व्यग्र,

३० पहलवान — उग्र, नीच-केश, उद्धत पीन-ग्रीव, पीन-शिरोधर, पीन-गात्र तथा लम्बे ,

३१ वृषभ एव सिंह आदि तथा अन्य सत्व-जातिया — ये सब यथा-भूमि-निवेश विचरय है ,

३२ सरितायें — स-शरीर-चित्रण मे वाहन प्रदर्शन अनिवाय है पुन हाथो मे पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटनो को नचाए हुए

३३	शैल	मूर्धा पर शिखर-प्रदर्शन आवश्यक है,
३४	पृथ्वी (भू-मण्डल)	सशरीरा, सद्वीप-हस्ता,
		टि० श्री शिव राममूर्ति एव डा० क्रैमरिश दोनो इन विद्वानो ने विष्णु-धर्मोत्तरीय इस लक्षण को नही समझा क्योकि हमारी परम्परा मे पृथ्वी, देवी के रूप मे विभावित है, अत जब वह चतुर्भुजा या अष्ट-भुजा गौरी, लक्ष्मी या अष्टमगला के रूप मे विभाव्य है तो उसके साता हाथो मे सातो द्वीप करामलकवत स्वय प्रदश्य है ।
३५	समुद्र	रत्न-पात्रो से उसके शिखर-रूपी हाथ प्रदश्य हैं, प्रभा-मडल बनाकर सलिल-प्रदशन विहित हो जाता है,
३६	निधिया	कुम्भ, शख पद्म आदि लाछनो सहित इसके दिव्य (शख पद्म, निधि आदि) अवयव प्रदश्य हैं,
३७	आकाश	विवर्ण (Colourless), खगाकुल,
३८	दिव (Heavens)	तारका-मडित,
३९	धरा—त्रिविधा	१ जागल-(जगली),
		२ अनूपा (दलदली),
		३ मिश्रा यथा-नाम तथा-गुणा ।
४०	पर्वत	शिला-जाल, शिखर, धातु, द्रुम, निर्झर, भुजग आदि चिन्हो से चिन्हित,
४१	वन	नाना-विध वृक्ष-विहग-श्वापद-युक्त,
४२	जल	अनन्त मत्स्यादि-कच्छपो एव जलीय जन्तुओ के द्वारा विभावित,
४३	नगर	चित्र विचित्र-देवतायतनो, प्रासादों, आपणो (बाजारों) एव भवनों तथा राज-मार्गों से सुशोभित,
४४	ग्राम	उद्यानो से भूषित और चारा ओर राहों से युक्त,
४५	दुर्ग	वप्र, उत्तुग अट्टालक आदि से परिवेष्टित,
४६	आपण-भूमि	पण्य-युक्त—दुकानो से घिरी हुई,

४७	आपान-भूमि	पीने वाले नरो से आकुल,
४८	जुवारी	उत्तरीय-विहीन एव जुआ खेलते हुए,
४६	रण-भूमि	चतुरग सेना से युक्त भयानक लडाई लडते हुए योधा-गणो से और उनके अगो मे रुधिर की धारा बहती हुई और शवो से पूरित,
५०	श्मशान	जलती हुई चिता से प्रदश्य हैं जहा पर लकडी के ढेर और शव भी पडे हो,
५१	माग	सभाव उप्टो सहित,
५२-	रात्रि (अ)	चन्द्र, तारा, नक्षत्र चौर उलूक आदि से एव सुप्तो से,
	(ब)	प्रथमाव-रात्रि अभिसारिकाओ स,
५३	उषा	सारूणा, म्लान दीपा कुक्कुट-रूता,
५४	सध्या	नियमी ब्राह्मणा से,
५५	अधरा	घर जाते हुए मनुष्या की गति से,
५६	ज्यात्स्ना	कुमुदो के विकास एव चन्द्रमा से,
५७	सूय	क्लेश तप्त प्राणियो स,
५८	बसन्त	फुल्ल-वृक्षो मे कोकिलाओ भ्रमरो प्रहृष्ट नर-नारियो से,
५६	ग्रीष्म	क्लान्त नरो से छायागत मगो स, पकमलिन महिषो से शुष्क-जलाशय-चित्रण से,
६०	वर्षा	द्रुम-सलीन पक्षियो स गुहा-गत सिंह-व्याघ्रादि श्वापदा से, जल-घन बादलो से चमकती हुई बिजली से,
६१	शरद	फलो से लदे हुए वक्षो से, पके हुए खेतो से हसादि पक्षियो स सुशोभित सलिलाशयो से,
६२	हेमन्त	सारी की सारी सूनी (लूनी) धरती से, धुधले वातावरण स (सनीहार-दिगन्तकम),
६३	शिशिर	हिमाच्छिन्न दिग-दिगन्त से वृक्षो में पुष्प और फला स और ठिठुरते हुए प्राणिया से।

टि० —विशेष प्रवचन यह है कि वृक्षो के फलो-फूलो पर एकमात्र दृष्टिपात एव जना का आदाविरेक—यही चिन्ह्य ऋतुओ के लिये काफी है।

इस तालिका के उपरान्त अब इस स्तम्भ म यह भी अन्त म समीक्ष्य एव विवच्य है कि यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक-मात्र क्षय-वृद्धि एव सादृश्य तथा मूलम्बादि विभागो पर ही आश्रित नही है, प्रमाण भी उसी प्रकार अनिवाय है।

देव ऋषि, ग धव दैत्य, दानव, राज-महाराजे, अमात्य तथा सावत्सर, पुरोहित आदि सब भद्र-प्रमाण (दे० अनुवाद एव मूल —पच-पुरुष-स्त्री लक्षण) म चित्र्य है। विद्याधरो को रुद्र-प्रमाण मे, किन्नर, नाग, एव राक्षस मालव्य-प्रमाण म करना चाहिए। जहा तक वेश्याओ एव लज्जावती महिलाओ का प्रश्न है, वे रूचक एव मालव्य-प्रमाण मे क्रमश चित्र्य हैं। वैश्य भी रूचक मान मे प्रदर्शित हैं। शूद्र-मान शशक-मान विहित हैं। यह ग्र थ भी कुछ विशेष क्रमिक नही है। जहा तक अ य शिल्प ग्र थ जैसे कामिकागम आदि, वहा मान-प्रमाण ताल मान पर आश्रित हैं।

चित्र रस एव दृष्टिया

पीछे के स्तम्भो मे रखा-करण, वतना-करण एव वर्ण-वि यास इन सब पर कुछ न कुछ प्रतिपादन हो चुका है। निम्न लिखित प्रवचन पढिए —

'रखा प्रशसन्त्याचार्या वर्णाढ्यमितरे जना
स्त्रियो भूषणमिच्छ ति वतना च विचक्षणा ॥"

तथापि वर्ण-वि यास एक प्रकार स चित्र-कार और चित्र-दृष्टा दोनो के मन को अवश्य अभिभूत करता है। इसी मन स्थिति म चित्र-कार एव चित्र-दृष्टा दोनो की कल्पनाओ का स्वत ज म हो जाता है। अत काव्य और चित्र मे विशेष अ तर नही है।

वैसे तो चित्र की विधाओ पर हमने मानसोल्लास और शिल्प-रत्न के रस-चित्रो का भी वहा पर प्रस्ताव किया है तथापि इन ग्र थो की दृष्टि म रस-चित्र या तो द्रव-चित्र हैं या भाव चित्र है। भरत के नाट्य-शास्त्र मे सबसे बडी विशेषता यह है कि कोई भी रस, यदि किसी चित्र मे चित्रित करना है तो उस को अभिव्यञ्जक वर्ण-विन्यास स प्रतीत करना चाहिए। श्रृगार का अभिव्यञ्जक श्याम वर्ण है, हास्य का शुभ्र, करूण का ग्रे (Gray), रौद्र का रक्त, वीर का पीताभ शुभ्र, भयानक का कृष्ण, अदभुत का पीत तथा बीभत्स का नीला है।

चित्र-शास्त्रीय ग्र थो म समरागण-सूत्रधार ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमे चित्र-रसो एव चित्र-दृष्टियो का वर्णन है। इस ग्र थ के लेखक भोजदेव के श्रृगार

प्रकाश से हम परिचित ही है और संस्कृत साहित्य म महाराज भोजदेव की बड़ी देन है और वे एक ऊचे साहित्य-शास्त्री (Aesthetician) थे। अतएव यह अध्याय उसी दिशा मे उनकी देन है। इस अध्याय का निम्न प्रवचन पढिए —

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीना चेह लक्षणम।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ॥

अस्तु इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इन रसों एव रस-दृष्टियो की तालिका पाठको के सामने रखते हैं। यद्यपि अनुवाद-खड म रस-दृष्टि-लक्षण-शीर्षक अध्याय म इन सभी रसो एव रस-दृष्टियो का प्रतिपादन वहा है ही तथापि रस का सरलीकरण एव नवीन-रूप देकर यह दो तालिकाए उपस्थित की जाती है

एकादश चित्र रस

	सज्ञा	शरीरिक वृत्ति	मानसिक वृत्ति
१	श्रृगार	स-भ्रू कम्प प्रमातिरेक	ललित चेष्टायें
२	हास्य	अपाग विकसित अधर स्फुरित,	लीला
३	करुण	अश्रुविलुलित कपाल आस्य नासा-सकुचित	चिन्ता एव सताप
४	रौद्र	आखें लाल ललाट निर्माजित अधरोष्ठ दन्त-दष्ट	
५	प्रेम	हर्षातिरेक सम्पूर्ण शरीर पर—अर्थलाभ सुतोत्पत्ति एव प्रिय-दर्शन से	
६	भयानक	लोचन उदभ्रान्त, हृदय-सक्षोभ यह सब वैरि दर्शन एव वित्रास स	
७	वीर		धैर्य एव वीर्य
८			
९	बीभत्स		
१०	अदभुत	तारकायें स्तमित अथवा प्रफुल्लित किसी असभाव्य वस्तु अथवा दर्शन स,	
११	शान्त	समस्त शरीरावयव अविकारि,	अराग एव विराग

अष्टादश चित्र-रस-दृष्टियाँ

क्रम स०	सज्ञा	आश्रय रस
१	ललिता	शृगार
२	हृष्टा	प्रेमा
३	विकसिता	हास्य
४	विकता	भयानक
५	भकुटी	
६	विभ्रान्ता	श्रगार
७	सकुचिता	श्रगार
८		
९	ऊध्वगता	
१०	योगिनी	शान्त
११	दीना	करुण
१२	दष्टा	वीर
१३	विह्वला	भयानक तथा करुण
१४	शकिता	भयानक तथा करुण

इस स्तम्भ म यह भी सूच्य है कि ये रस तथा रस दृष्टिया सस्कृत काव्य-शास्त्र की कापी नही हैं । इन रसों और रस-दृष्टियों के लक्षण मे अपने आप सिद्ध है कि ये लक्षण बहुत काफी परिमार्जित एव परिवर्तित सस्करण मे रक्खे गये हैं जिससे भाव चित्र-प्रतिमाओ मे भी विहित हो सकें । यह हम जानते ही हैं कि काव्य मे भावो का स्थान गौण है और रसो का स्थान मूधन्य है । बात यह है कि चित्र मे भावो पर ही शारीरिक एव मानसिक दोनो ही स्फूर्तिया क्रीडा करती हैं और यही चित्र का परम कौशल है ।

अस्तु, अब हम चित्र-कला मे इस साहित्य सिद्धान्त (Aesthetics) के परिवत्त मे दो प्रश्नो को लेना है । यद्यपि सस्कृत-साहित्य शास्त्रीय अथवा सस्कृत-काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसो का साक्षात सम्बन्ध मानवो (नर, नारी एव शिशु) से ही है और उन्हीं के दिव्य रूपो यथा देव, दानव दैत्यो से ही है, परन्तु इस चित्र-कला मे रसो को इस परिमित कोटि से बहुत आगे बढा दिया गया है और इसका एक-मात्र श्रेय इसी ग्रन्थ को है । पाठक इस स० सू० के अध्याय का निम्न प्रवचन पढे —

इत्यते चित्र-सयोगे रसा प्रोक्ता' मलक्षणा ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सवसत्वेष्व योजयेत ॥

मरे लिए इस वाक्य ने इस अध्याय में बडी प्ररणा प्रदान की। अतएव मैंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) मे इस वाक्य की सराहना करते हुए निम्न समीक्षा की है जो पाठको के लिए पठनीय है। यहा पर यह उद्धृत की जाती है —

" Two important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded Firstly all these rasas though characteristic of only human beings—men women, and children and in their likeness, the anthropomorphic forms of the gods and demi gods and demons—they have an application to all sentient creations-Manusani Pi raskrtya Sarvasatvesu Yojayet 82 13 This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is realy the master-piece, the supreme achivement of the artist It becomes a new creation, a superio creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself If it is through the symbolism of Mudras—hand poses bodily poses and the postures of the legs the mute gods speak to us giving their vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so called brutes can also become our co sharers in the aesthetic experience It is the marvel of the art If poetry can create an idealistic world full of beauty and bliss alone, the plainting, her sister must also follow the suit "

अब आईये एक तुलनात्मक समीक्षा की ओर जिसमे हम नाटय काव्य, रस और ध्वनि सभी को लेकर इस चित्र-कला की समीक्षा करेंगे।

चित्र-कला नाटय-कला पर आश्रित है —विष्णु धर्मोत्तर मे मार्कण्डेय और वज्र के सवाद म चित्र-कला की मौलिक भित्ति वास्तव मे नाट्य-कला है जो इस सवाद से स्वत प्रकट —

मार्कण्डेय उवाच—नत्य-शास्त्र के ज्ञान के बिना, चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को सन [illegible] भी कठिन है, इस लिए ह राजन इस पथ्वी का कोई भी काय इन दोनो [illegible] बिना असम्भव है"

वज्र उवाच—ओ ब्राह्मण ! नृत्य-कला और चित्र कला के सम्बन्ध में मुझे पूरी तरह से समझाइये क्योंकि मैं भी यह मानता हूँ कि नृत्य-कला के सिद्धान्तों में चित्र कला के सिद्धान्त स्वयं गतार्थ है।

मार्कण्डेय पुनरुवाच—राजन् ! नृत्य का अभ्यास किसी के भी द्वारा दुष्कर है, जब तक वह संगीत को नहीं जानता तो फिर बिना संगीत के नृत्य का आविर्भाव ही असम्भव है।

अतएव इस विष्णुधर्मोत्तरीय महान विभूति का अनुगमन करते हुए महाराजाधिराज भोजराज इस समन्वय-दृष्टि में नृत्य-नाट्य-संगीत की भूमि पर पल्लवित पुष्पित एवं फलित चित्र विद्या को काव्य और साहित्य के प्लेटफार्म पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस रसाध्याय के निम्न प्रवचन पढ़िये —

> हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
> सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
> आंगिकं चैव चित्रं च प्रतिमासाधनमुच्यते।
> (भवन्त्यायत ?) स्तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम् ॥
> प्रोक्तं रसानामिदमत्र लक्ष्म दृशां च संक्षिप्ततया ततं।
> विनाय चित्रं लिखता नराणां न सन्ति यानि मनः कदाचित्।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की अवतारणा से यह प्रकट हो गया है कि चित्र नाट्य पर आधारित है। मेरी दृष्टि में तो नाट्य तथा चित्र दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं। चित्र नाट्य का एक दृश्य है और नाट्य चित्रों की कड़ी (Succession of citras) है।

विष्णुधर्मोत्तर का पूर्वोक्त प्रवचन (विना तु नृत्य शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदमित्यादि) पढ़े तो जिस प्रकार नाट्य 'अनुकरण' पर आधारित है उसी प्रकार चित्र भी अनुकरण पर ही आधारित है। पुनः जिस प्रकार नाट्य में हस्त-मुद्राएं अनिवार्य है, उसी प्रकार चित्र-शास्त्र एवं प्रतिमा-शास्त्र में भी इन मुद्राओं—शरीर-मुद्राओं (ऋज्वागतादि) पाद मुद्राओं (वैष्णवादि स्थानक आदि) तथा हस्त मुद्राओं (पताका आदि) का भी इस चित्र-कला एवं प्रतिमा-कला में सामान्य अंग है (दे० समरांगण-सूत्रधार का परिमार्जित संस्करण एवं अनुवाद षष्ट पटल)। यथाप्रतिज्ञात अब विष्णु-धर्मोत्तरीय प्रवचन को सामने रखता हूँ —

> बिना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ॥
> दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः।

कराश्च य महानरो पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥
त एव चित्र विनया नत्त चित्र पर मतम

इन दोना सदर्भों की अवतारणा के द्वारा न यह स्वत सिद्ध हो गया है कि चित्र जिस प्रकार से मुद्राओं के द्वारा बहुत कुछ व्यक्त अवश्य होते हैं परन्तु रसो और रस-दृष्टियो म वे साक्षात सजीव हो उठते हैं। जिस प्रकार व्याख्यान, वरद आदि मुद्राओं से प्रतिमाएं व्याख्यान देने लगती हैं उपदेश देने लगती हैं वरदान देने लगती है, उसी प्रकार से य मुद्रायें चित्रो और प्रतिमाओं को अपने पूर्ण व्यक्तित्व मे अभिव्यक्त कर देती है। भाव-व्यक्ति जब रसाभिव्यक्ति मे परिणत हो जाती है तो यह कला न रह कर रस शास्त्र (Aesthetics) बन जाती है। अब आइये चित्रो का काव्य के रूप म देखें —

काव्य एव चित्र —वामन अलंकारिक-परम्परा के प्रौढ आचार्य माने जाते हैं उनके काव्यालंकार-सूत्र मे बहुत से अलंकार एव वृत्तियां चित्र के रूप मे व्याख्यापित है। इसी महती दृष्टि से काव्य की परिभाषा को चित्र म परिणत कर दिया है —

रीतिरात्मा काव्यस्य

और रीति की उन्होंने जो वृत्ति मे व्याख्या की है वह भी कितनी मार्मिक है —

एतासु तिसृषु रेखास्विव चित्र काव्य प्रतिष्ठितम '

यत उन्होंने काव्य की आत्मा रीति मानी है उसी प्रकार से चित्र की आत्मा रेखायें है। विष्णु-धर्मोत्तर के उपरि-उद्धृत रेखा प्रशसन्त्याचार्या भी यही परिपुष्ट करता है। पुन वामन अपने काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति ३।१ म रेखा से आगे बढ कर गुण मे आ जाते हैं —

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्र पण्डित ।
तथैव वागपि प्राज्ञै समस्तगुणगुम्फिता ॥

यह उक्ति पुन विष्णुधर्मोत्तर की उक्ति का स्मरण कराती है —

वर्णाढ्यमितरे जना '

निम्नलिखित थोडे से और उद्धरण पढ़िए जिससे काव्य एव चित्र म क्या कोई अन्तर है—यह सब अपने आप बोध-गम्य हो जावगा —

"औज्ज्वल्य कान्ति —यह काव्य के दश गुणो मे से कान्ति भी प्राचीन आलंकारिको के द्वारा माना गया है, अत कान्ति अर्थात् औज्ज्वल्य यथा पूर्व-

स्तम्भो मे चित्र गुणो मे औज्ज्वल्य की समीक्षा कर ही चुका हू वही वामन व मत मे औज्ज्वल्य काव्य गुण है । पुन उनके लक्षण एव वृत्ति को देखें —

"औज्ज्वल्य कांति का सू० ३ १ २५

"यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्रपण्डित ।

तथैव वागपि प्राज्ञ समस्तगुणगुम्फिता । 'का सू० ३ १

' औज्ज्वल्य कांति ' का सू ३ २५

' बन्धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत असौ कांतिरिति, तदभावे पुराणच्छायत्युच्यते"

औज्ज्वल्य कांतिरित्याहुगु ण गुणविशारदा ।

पुराणचित्रस्थानीय तेन बध्य कवेवच ॥

वामन अपने काव्यालकार सूत्र (१ ३ ३०-३१) म भी विष्णुधर्मोत्तर के समान ही नाटय एव चित्र को क ही कोटि मे लाकर रख देते है —

सन्दर्भेषु दशरूपक नाटकादि श्रेय तद्धि चित्र चित्रपटवत विशेषसाकल्यात"

यही भरत के नाटय-शास्त्र तथा भाव-प्रकाश से भी समर्थित है—

अवस्थानुकृतिर्नाटच रूप दृश्यतयोच्यत ' भ० ना० शा०

' रूपक तद भवेद् रूप दृश्यत्वात प्रक्षकरिदम' भा• प्र०

(स) अतएव वामन ने जो" रीति रात्मा काव्यस्य"

कहा है उसी की सु दर टीका हमे रत्नेश्वर के द्वारा भोज देव के सरस्वती कण्ठाभरण मे प्रदत्त इस वामन क सूत्र की जो वहा व्याख्या मिलती है वह भी कितनी मार्मिक है

"यथा चित्रस्य लखा अगप्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तर "

भाट्टतौत के शिष्य अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनव-भारती मे वामन के इस नाटय एव चित्र के सन्दभ को भी समर्थित किया है, जो वहीं पर पठितव्य है।

(II) राजशेखर की अपने बाल भारत (प्रचण्ड-पाण्डय) मे प्रदत्त निम्न उक्ति को पढ़िये और समझने की कोशिश कीजिय—

"किञ्च स्तोकतम कलापकलनश्यामायमान मनाक्

धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूप जगज्जायते

(III) राजानक कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के निम्न श्लोक

मज्ञनोफ्लकोल्लेखवणच्छायाश्रिय पथक ।
चित्रस्येव मनोहारि क्तु किमपि कौशलम ॥

इन दोनो सन्दर्भो से चित्र विद्या एव काव्य-शास्त्र का कितना सुदर श्र योन्याश्रयिभाव प्रत्यक्ष है । राजनक-कुन्तक यहा दो भूमि-बन्धनो (कुड्य एव पट्ट) की ओर सकेत ही नही करते वरन रेखा-क्रम के सिद्धान्तो—जैसे प्रमाण (anatomical), वण क्षाया कान्ति आदि पर भी प्रकाश डालते हैं ।

चित्र एव रस —चित्र कला मे रमा एव रस-दृष्टियो के श्रयन्त महत्व-पूर्ण स्थान का हम पहिले इस स्तम्भ मे विचार कर चुके है । यहाँ तो हमे सस्कृत के काव्याचार्यों को लेना था, श्रन निम्नलिखित दोनो उद्धरणो को पढिये । एक चित्र शास्त्री श्रभिलाषितार्थ-चिन्तामणि के लेखक महाराज सोमश्वरदव का तथा सस्कृत काव्य-शास्त्री चन्द्रालोक के लब्धप्रतिष्ठ लेखक जयदेव का—

श्र गारादिरसो यत्र दशनादेव गम्यते ।
भावचित्र तदाख्यात चित्रकौतुककारकम ॥ श्रभि० चि०
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैविभावित ।
ग्रास्वाद्यमानैकतनु स्थायी भावो रस स्मत ॥—चन्द्रा०

श्रत यह पूण प्रकट है जब चित्र नाट्य पर आश्रित है और नाट्य रसास्वाद अथवा रसाभिव्यक्ति पर ही आश्रित है, तो उसी प्रकार काव्य भी तो रस-सिद्धान्त चित्र-कला का भी तत्सम सिद्धान्त है । आइये सर्वोपर कोटि पर—ध्वनि सिद्धान्त ।

चित्र एव ध्वनि —पीछे के स्तम्भ मे प्रतीकात्मक श्रवलम्बना (Convention in depicting pictures) पर हम काफी कह चुके हैं श्रत जिस प्रकार व्यञ्जना (Suggestion) उत्तम काव्य की मूल भित्ति है उसी प्रकार आकाश पथ्वी, पवत जुवारी, माग आदि कैसे बिना प्रतीकात्मक श्रवलम्बनो (Suggestions or symbols) के चित्र्य हो सकते हैं । आधुनिक काव्य एव कला के समीक्षक ललित-कला म मुद्रा सिद्धान्त (Symbolism in Art) को प्राण माना है तो प्राचीन श्राचार्यों ने पहले ही यह परम्परा प्रारम्भ कर दी थी । नाट्य प्रतिमा एव चित्र म बिना मुद्रा ये सब निष्प्राण हैं, श्रत जो मुद्रा है वही व्यजना है । रसान्वनि स्वशब्दवाच्यत्व से हमशा दूर रहते हैं, तभी काव्य मे उत्तम काव्यता प्राप्त हो सकती है । उसी प्रकार चित्र भी काव्य एव नाट्य के

समान तभी ललित कला हो सकती है, जब व्यजना या प्रतीकात्मक अवलम्बन (Suggestion or symbol) उसम पूण प्रतिष्ठत हो ।

चित्र-शैलियाँ
(पत्र एव कण्टक के आधार पर)

जहा तक चित्र-शैलियो की बात है स्थापत्य की ही शैलियो मे इनको गताथ किया जा सकता है । अब तक किसी ने भारत-भारती Indoloy में चित्रो के सम्ब ध मे शैलियो का उपश्लोकन नही किया है । अनेक वास्तु-ग्रथो के अध्ययन के उपरान्त जब हम अपराजित-पच्छा पर आए, तो इस ग्रथ क २२७-२२६ सूत्रो मे बडी ही मार्मिक एव नवीन उदभावना प्राप्त की है ।

चित्र पत्र —अपराजित पच्छा मे जिस प्रकार रेखा-कम, वण वि यास, मान-प्रमाण चित्र क लिए अनिवाय अग है, उसी प्रकार पत्र-विन्यास तथा कण्टक स्फति भी एक प्रकार स चित्र की प्रोज्ज्वलता लाने के लिए एव छाया और कान्ति के लिए तथा प्रदीप्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं । मेरी दृष्टि मे इन पत्रो और कण्टको का सम्बन्ध चित्रकला म प्राकृतिक पष्ठ-भूमि (Natural Background) से सम्ब ध रखता है । दूसरी उद्‌भावना यह है कि य पत्र और कण्टक चित्र-विशष क द्रा के सम्भवत विशेष वैशिष्ट्य हैं। अतएव पत्रो और कण्टका की निम्न तालिका मे जो इनकी शैलिया और विधा स सम्बन्ध है, इन वास्तु ग्र थो मे शैली का कही भी कीतन नही । जातिया ही वहा प्रतिपादित की गई हैं । इस लिए शैलिया और जातिया एक ही चीज हैं। इन पत्र-जातिया के सम्बन्ध मे अपराजित-पच्छा मे एक बडा ही मनोरजक और पौराणिक आख्यान है कि इन पत्रो और कण्टका का किस प्रकार से प्रादुर्भाव हुआ —

समुद्र मथन म जब नाना रत्न निकले तो सुरतरू—कल्प-वृक्ष भी निकला, जिसमे नाना प्रकार के पुष्प-पत्र लदे थ । जो पत्रादि पूव मे थे उसकी सज्ञा नागर हुई, जो दक्षिण म थे उकनी सज्ञा द्राविड हुई और जो उत्तर म थे व वेसर हुए। पुन इन पत्रो को ऋतु से सम्बद्ध कर दिया अर्थात् बसन्त म नागर, ग्रीष्म मे द्राविड तथा शरद म वसर । इन्ही पत्रो की जातियो का एक दूसरे से वैभिन्य प्रदान करने के लिए (To distinguish) इन पत्रो के जो कण्टक थे व ही इनके घटक हुए ।

अस्तु इस उपोद्‌घात के बाद पहले हम पत्र-तालिका पर आए —

षडविधा

१	नागर	४	वसर	टि० इन पत्रो को इस ग्रंथ मे नाना पत्रो मे विभाजित किया है जिनकी सख्या मन्यातीत है जस दिन पत्र, न्तु पत्र मेघ-पत्र स्थल-पत्र आदि ।
२	द्राविड	५	कलिग	
३	व्यन्तर		यामुन	

अष्टविधा

चित्र-पत्र कण्टक इन—कण्टको की अष्ट-विधा है —

१	कलि	५	व्यावन
२	कलिका	६	व्यावत्त
३	व्यामिश्र	७	सुभग
४	चित्र-कौशल	८	भग-चित्रक

अपराजित-पच्छा के निम्नोद्धरण से इन की आकृति भी विभाव्य है—अर्थात कलि अगस्त्यपुष्पकाकार कलिक वराहदष्टाकृति व्यामिश्र बद्धपुष्पाद्धवाकार मध्यकेशराकार कापाल उकारसदृशाकार व्यावृत्त व्याघ्रनखाकार सुभङ्ग कृतिवाकृति एव भङ्ग बदरीफलाकार । जहा तक शैल्यनुरूप अर्थात जातिपुरस्सर इन कण्टको की विचित्रता है वह इस तालिका से निभाल्य है —

नागर	व्याघ्रनखाकार
द्राविड	बदरी-केतकी-आकार
वेसर	अगस्त्य पुष्पकाकार
कालिङ्ग	उकाराकार
यामुन	मध्यकेशरकृति
व्यन्तर	वराहदस्ट्राकृति—

पत्र एव कण्टको का चित्र-प्रोल्लास महाकवि बाण भट्ट के काव्यों द० हर्षचरित का निम्न प्रवचन जो इस चित्र-कौशल का पूर्व प्रतिबिम्बन करता है —

> बहुविधवर्णदिग्धाङगुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि
> च चित्रयन्तीभिश्चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभि ॥

अ त मे इन शलियो पर कुछ और भी विवच्य है । वस तो चित्र कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये है—हिंदू चित्र-कला बौद्ध चित्र-कला तथा मुगल चित्र कला । चूकि हम यहा हिंदू स्थापत्य एव चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे है अत जहा तक हि दू युग का सम्ब ध है उसम एतिहासिक शैलियो का कोई विशष महत्व नही, क्योकि इस युग की चित्र कला एक ही आधार पर बनी है जो रमाग्क निन्नन से साक्षात् प्रतात है ।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बडी ही मनोरजक कहानी प्रस्तुत की है । तारानाथ ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियो की उदभावना की है—

१ देव शैली २ यक्ष-शैली ३ नाग-शैली ।

देव-शली—मगध देश (आधुनिक बिहार) की महिमा है, जिसका काल उ होने ईसा-पूव छटी से लगाकर तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान उत्थान बताया गया है जो चित्र महान आश्चय एव विस्मय के उदाहरण थ ।

यक्ष-शली—अशोक-कालीन प्रोल्लास है । अशोक के काल मे अवश्य तक्षण एव चित्र का महान विकास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं ।

नागर-शली—नागाजु न (बौद्ध भिक्षु एव महान बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय मे यह तीसरी शैली न ज म लिया । नागो की कला का हम कुछ सकेत कर ही चुके हैं । नाग-जाति बडी ही तक्षण-कुशल थी, अत चित्र-कौशल मे कैसे पीछ रह सकती थी । अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षकों की ही कृति मानी गई है ।

तारानाथ की यह भी आलोचना है कि ईसवीयोत्तर ततीय शतक स बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था । पुन बौद्ध चित्र कला जाग उठी । उसका पूण श्रेय महनीय कीर्ति तक्षक एव चित्रकार बिम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध पक्ष के राज्य-काल म उत्पन्न हुए थ । वह मागध थ । उनका समय ५वी अथवा ६वी शताब्दी के बीच माना जाता है । उस समय तीन भौगालिक चित्र-केन्द्र पनप रह थ । मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूव । बिम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र कला को अति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) म परिणत कर दी थी ।

जहा तक पश्चिम केन्द्र की बात है उसे हम राज-स्थानी केन्द्र के नाम से सकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का लब्धकीर्ति चित्रकार शारगधर थे जो मारवाड मे पैदा हुए थे। उस समय राजा शील राज्य कर रहे थे। सम्भवत यह राजा उदयपुर के शिलादित्य गुहिल थे जिनका समय ७वी ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत मे ये चित्र कलाए अति प्राचीन यक्ष कौशल पर अवलम्बित थी।

अब आइए पूर्वी स्कूल पर। यह बगाल मे विकसित एव पोल्लसित हुआ था। राजा धर्मपाल तथा राजा देवपाल बगाल के बडे कला-सरक्षक नरेश थे। यह समय नवी शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश मे नागो की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शाली धीमन तथा उनके पुत्र वितपल को था जो दोनो कुशल तक्षक एव चित्रकार के साथ साथ धातु-तक्षण मे भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रो एव तत्तद्देशीय शैलियो के अवान्तर केन्द्र एव भेद भी प्रादुर्भूत हो गये। काश्मीर, नेपाल, बर्मा दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानो पर उप-केन्द्र विलसित हो गये। इस स्तम्भ मे हमे मध्य कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नही। मध्य-काल की चित्र-शैली को कलम पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नही ब्रश समझें। देहली कलम आदि से हम परिचित हैं। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल मे जयपुर तथा कागरा ही आते हैं। पुन अब आइये उत्तरापथ की ओर तो हम बहुतो की प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलमे जैसे लखनवी दक्षिणी काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि।

अस्तु, थोडे से विहगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्रकार के चरणों पर पाठको को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक हैं, क्योकि महाराजाधिराज सोमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप मे विभावित किया है।

चित्रकार एव उसकी कला

चित्रकार के सम्बन्ध मे कुछ लिखने के प्रथम हम यहा पर यह भी थोडा इगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला मे क्या अन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाएँ क्या सगीत, क्या नृत्य, क्या नाटय क्या काव्य—यहा तक कि वास्तु एव शिल्प भी

सभी ये कलायें दर्शन की ज्योति से उद्दीपित थी । सगीत मे नाद ब्रह्म, काव्य एव नाटय मे शब्द-ब्रह्म (दे० वैयाकरणो का स्फोट ब्रह्म, जो उनके अनुजो का भी वही ध्वानि-सिद्धात मे गताथ है) तथा रस-ब्रह्म, वास्तु मे वास्तु-ब्रह्म—ये सब कल्पनाए कोरी कल्पनाए नही—ये कलाओ को सावभौमिक एव सव कालीन (Space and time) आभा से आभासित कर दिया था । जिस प्रकार सगीत अर्थात Classical Music एक महती साधना है, उसी प्रकार चित्र भी उससे कम महती निष्ठा एव साधना से रहित नही है । चित्र एकमात्र मनोरजन कला नही, वह काव्य, नाटय एव वास्तु शिल्प के समान भी वह अध्यात्म से अनुप्राणित है एव महान प्रेरणा को प्रदान करने वाली है । अजन्ता की गुफाओ मे सैकडो वष किस महान् अध्यवसाय एव तप की साधना म इन की रचना हुई–देखिए महाभिनिष्क्रमण-चित्र, मार कम (Exploits of Mara) अप्सराओ की क्रीडायें, विद्याधर-यक्ष गन्धव-किन्नरो क साथ देव-गण, नाना पुष्पादप-पारिजात बल्ली-गुल्म-लता वीरुध आदि प्रकृति छाया—ये सब चित्र न केवल प्रशसा के लिए वरन् महती प्ररणा के लिए भी हैं ।

यद्यपि ललित कलाओ का सेवन सभी जातियो एव सभ्यताओ तथा सस्कृतियो का अभिन्न अग है तथापि भारत की इन कलाओ मे कुछ भिन्नता भी तथा विशिष्टता भी है । विशेषकर इस जगत म पाश्चात्य एव पौर्वात्य म य ही दो सस्कृति-धारायें विशेष-रूप से समीक्ष्य है । भारत का कलाकार या चित्र-कार दार्शनिक पहले, कलाकार बाद मे । पाश्चात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Mass है और पौर्वात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Line है । पर्सी ब्राउन ने इन दोनो की जो समीक्षा की है वह बडी मार्मिक एव सार-गर्भित है—

As the painting of the West is an art of 'mass" so that the East is an art of Line The Western artist conceives his composition in contiguous planes of light and shade and colour He obtains his effect by "Play of surface" by the blending of one form into another, so that decision gives place to suggestion In Occidental painting there is an absence of definite circumscribing lines any demarcation being felt rather than seen On the other hand, much of the beauty of Oriental painting lies in the interpretation of form by means of a clear-cut definition, regular and decided, in other words, the Eastern

painter expresses form through a coovention—the convention of pure line and in the manipulation and the quality of this line the Oriental artist is supreme Western painting like western music is communal it is produced with the intention of giving pleasure to a number of people gathered together Indian painting with the important exception of the Buddist frescoes is individual miniature painting that can only be enjoyed by one or two persons at a time In its music in its painting, and even in its religl us ritual, India is largely individualist' —Brown

चित्र के दोष-गुण

चित्र कला के प्राय सभी अगा (षडगो) पर हम विचार कर ही चुके हैं। अब आइयें पुन विष्णु धर्मोत्तर की ओर जिसमे चित्र-दोषों एव चित्र-गुणो पर भी काफी प्रवचन प्राप्त होते हैं—देखिए ये नि न प्रवचन —

चित्र-गुणा —*स्थानप्रमाणभूलम्बो मधुरत्व विभक्तता।*
सादृश्य पक्षवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिता ॥
रेखा च वतना चव भूषणा वर्णमव च।
विज्ञेया मुनजश्रेष्ठ चित्रकमसु भूषणम् ॥
रेखा प्रशसन्त्याचार्या वतना च विचक्षणा ।
स्त्रिया भूषणमिच्छन्ति वर्णाठ्य मितरे जना ॥
इति मत्वा तथा यत्न कतव्यश्चित्रकर्मणि।
सवस्य चित्रग्रहण यथा स्यात्मनुजोतम ॥
स्वानुलिप्तावकाशा च निदेशा मवुका शुभा।
सुप्रपन्नभिगुप्ता च भूमिस्सञ्चित्रकर्मणि ॥
सुस्निग्धविस्पष्टसुवणरेख विद्वान्यथादेशविशेषवेशम्।
प्रमाणशोभाभिरहीयमान कृत भवेञ्चित्रमतीव चित्रम् ॥

चित्र-दोषा —दौबल्यर्वि दुरेखत्वमविभत्तत्वमेव च।
बृहदण्डोष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च ॥
मानवाकरता चेति चित्रदोषा प्रकीर्तिता।
दुरासन दुरानीत पिपासा चान्य चित्तता ॥
एते चित्रविनाशस्य हेतव परिकीर्तिता।

चित्रकार—अब आइये चित्रकार की ओर। हम इस स्तम्भ म पहले ही कह चुके है। महाराज सोमेश्वर देव जो लब्ध प्रतिष्ठ एक स्वय चित्रकार भी थे, तथा इस प्रसिद्ध ग्रथ मानसोल्लास (अथवा अभिलषिताथ-चिन्तामणि) के लेखक भी थ व चित्रकार क सम्ब ध मे लिखत है —

प्रगल्भैभावित्तस्तज्ञ सूक्ष्मरेखाविशारदै ।
विधिनिर्माणकुशलै पत्र-लेखन कोविदै ॥
वर्णपूरणदक्षश्च वीरणे च कृतश्रमै ।
चित्रकैर्लेखयेच्चित्र नानारससमुद्भवम ॥

स सू का भी प्रवचन पढे —

नृश्य त केऽपि शास्त्रार्थ केचित कर्माणि कुवते ।
करामनकव (स्यास्य पर ?) द्वयमप्यद ॥
न वत्ति नास्त्रवित कम न शास्त्रमपि कमवित ।
यो वत्ति द्वयमप्येतत स हि चित्रकरो वर ॥

प्राचीन भारत के थोडे से ही चित्रकारो के सम्बन्ध मे कुछ साहित्यिक सन्दभ प्राप्त होत है। पुराणो एव ऐतिहासिक ग्र थो जसे महाभारत मे भारत का प्रथम चित्रकार एक नारी थी—चित्रलेखा। उसका वत्तान्त प्राय सभी को विदित है। बात यह है कि भारतीय चित्रकला अनभिधय कला Anonymous) art) है। भारत के चित्रकार क विषय मे एक प्रकार से बिल्कुल ही अज्ञात है। पश्चिम के चित्र-कलाकारो के पूण वृत्ता त ज्ञात है। मुगलो राजपूतानी तथा अन्य प्रदेशो के चित्र ही चित्रकार के वत्ता त—जीवन साधना एव कला—के मूक इतिहास हैं। हा बौद्धो की चित्र-कला स यह अनुमान अवश्य लगा सकत है कि भिक्षु ही चित्रकार था। तिब्बती चित्रो को देखिय व सब सघारामो चत्यो एव विहारो की कृतिया हैं। वही सत्य अज ता आदि प्राचीन बौद्ध पीठो की कथा है। जिस प्रकार भिक्षुओ एव भिक्षुणियो क लिए बौद्ध धम की नियमावली मे जो दिनचर्यायें कल्पित थी वही चित्र-पटो चित्र-पट्टो के कल्पन, सवन एव ज्ञानाजन तथा उपदश वितरण के लिए भी अनिवाय चर्या थी। राज-स्थान मे जिस प्रकार ग्रामे ग्रामे नाना कलाकार—तन्तुवाय धातु-कार, कुम्भ कार, प्रतिमा-कार थे उसी प्रकार उन्ही श्रेणियो मे सवत्र चित्रकार भी अपनी आराधना, अध्यवाय व्यवसाय स जीविकापाजन एव जीवन-यापन करते थे। मुगल चित्र-कार वास्तव मे राज दरबार का दरबारी चित्रकार होता था।

जिस प्रकार गुप्त-काल मे तथा धाराधिप भोज-देव के दरबार मे कवियो की श्रेणिया रत्नो के रूप मे विभाज्य थी, उसी प्रकार चित्रकार भी रत्न कहे जाते हैं। विक्रमादित्य के नौ रत्नो की गाथा एव श्रुति से हम परिचित ही हैं—उसी प्रकार उत्तर मध्यकाल म यह मुगल-कालीन परम्परा मेवाड म भी प्रचलित हो गई।

चित्र-कला के पुरातत्वीय एवं ऐतिहासिक निदर्शनों पर एक विहंगम दृष्टि

यद्यपि समरागण सत्रधार का यह अध्ययन शास्त्रीय है तथापि जैसा कि समाज मे और शिल्प-मण्डली एव पण्डित-मण्डली म यह उचित थी कि साहित्य समाज का दपण है' अत कोई भी शास्त्र यदि समाज का दपण न भी हो तो वह समाज क लिए निश्चय ही आदश, प्रेरणाए और पारिभाषिक शास्त्र एव विज्ञान अवश्य प्रस्तुत करता है। हमारे देश मे किस प्रकार से सम्पूण जीवन चर्या नियन बद्ध यापन करनी चाहिए उसी के लिए तो प्रभु-सम्मित वैदिक आदेश मिले (चोदनामूलो धम)—चोदना-प्रणा उसी प्रकार हमारे मनु आदि धर्माचार्यों ने धमशास्त्र बनाये। इतिहास और पुराणो न सुहृद्-सम्मित उपदेश के द्वारा यही काय सम्पादन किया और काव्य-नाटक भी पीछ नही रह। उन्होने भी कान्तासम्मित उपदेश एव ज्ञान को ही ध्यान मे रखकर आदि कवि बाल्मीकि एव व्यास एस तथा महाकवि कालिदास बाणा, भवभूति, श्री हष आदि भी बहुत सी कलाओ सामाजिक मान्यताओ एव धार्मिक उपचतनाओ अर्थात समस्त सास्कृतिक मूलाधारो एव रूढियो को प्रश्रय देने मे पीछे नही रह। अस्तु यदि साहित्य समाज का दपण है तो कला भी समाज का प्रतिबिम्ब है अत हम इस अध्ययन म पुरातत्वीय चित्र-निदशनो को छोडना उचित नहीं समझते। पुनश्च उपयुक्त महाकवियो की मार्मिक उक्तिया, जो चित्र स सम्बन्धित हैं उनका परिशीलन भी इस अध्ययन मे उपकारक होगा।

अब प्रश्न यह है कि हम इतिहास की दृष्टि से पहले पुरातत्व को लें या साहित्य को लें? वास्तव मे कालानुरूप (Chronological) इन दोनो धाराओं का विवेचन असम्भव है—जहा तक परिनिष्ठत कला का प्रश्न है, क्योकि कोई भी परनिष्ठित कला बिना शास्त्र के कभी भी विकसित नही की जा सकती। पाषाण एव धातु इन दोनो युगो मे पवत की कन्दराओ मे कोई न कोई उत्कीर्ण

चित्र अवश्य प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार साहित्यक-सदर्भों को देखें तो हमारे इस देश मे सुदूर अतीत मे सभ्यता और सस्कृति का कला-सेवन एक अभिन्न अग था। इस प्रकार पूर्व-ऐतिहासिक, वदिक तथा शैशव बौद्धकाल य—सभी चित्रकला के सेवन मे प्रमाण उपस्थित करते हैं। महाभारत और पुराणो मे उषा और चित्र-लेखा की जो कहानी हम पढते हैं उस समय चित्र कला कितनी प्रवृद्ध कला थी। यह स्वत सिद्ध हो जाता है। ई० पूर्व रचित साहित्यक ग्रन्थ जैसे विनय-पिटक, वात्स्यायन का काम-सूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र भास के नाटक कालिदास और अश्वघोष के महाकाव्य—इन सभी ग्रन्थो मे चित्र-कला का प्रोल्लास पद पद पर दिखाई देता है।

आज का युग कागज और छपाई का युग है इस लिए जरा हम सोचें कि उस सुदूर अतीत मे जनता म उपदेश वितरण करने के लिए, ज्ञानार्जन के साधनो के लिए तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो म धर्म-चर्या के उपकरणो के लिए पट-चित्र पट्ट चित्र कुड्य चित्र—तीनो बहुत सुन्दर साधन थे। बौद्धों के अनेक चैत्यों और विहारो (दे० अजन्ता आदि बुद्ध-पीठ) म कुड्य-चित्रो का निर्माण कोई मनोरजन मात्र ही न था। बुद्ध-धर्म की शिक्षा चर्या एव दर्शन की प्रत्यभिज्ञा और अभिख्या के लिए ही इन का उद्देश्य था। नाटक के मुद्राराक्षस का यम-पट इसी तथ्य का निदर्शन है। प्राचीन काल म धर्म-गुरुओ एव उपदेशको के लिए चित्र ही बडे साधन थ, जिन से अज्ञो एव शिशुओ को उपदेश देते थे। हमारे देश मे ब्राह्मणो का एक सम्प्रदाय था जिसकी सज्ञा 'नख (नख ब्राह्मण) थी, जो कुण्डली-चित्रो (portable frame work) की सहायता से ही व एक प्रकार से धर्म और अधर्म, पाप एव पुण्य, भाग्य एव दुर्भाग्य—इन सब का ज्ञान प्रदान करते थे।

हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि नाट्य और चित्र एक ही हैं तो जब नाट्य एक प्राचीनतम शास्त्र एव कला थी (नाट्य-वेद) तो फिर चित्र पीछे कैसे रह सकता है। अस्तु, अब कोई माप-दण्ड हमारे समक्ष नहीं रहा कि पुरातत्व को पहले प्रारम्भ करें या साहित्यक को अत हम पहले पुरातत्वीय निदर्शनो का लेते हैं।

पुरातत्वीय निदर्शन—ऐतिहासिक दृष्टि स चित्र के पुरातत्वीय स्मारकों को हम दो कालो म विभाजित कर सकते हैं—पूर्व-ईस्वीय तथा उत्तर-ईस्वीय।

पूर्व-ईसवीय को हम दो उप कालो मे विभाजित कर सकते हैं—प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक ।

प्रागैतिहासिक—इस काल म जैसा हम ने ऊपर सकेत किया है वे सब पवत-कन्दराओ के ही भग्नावशेष हैं । जहा तक हमारे देश की इस कला का प्रश्न है, वह निम्नलिखित प्राचीन स्थानो मे प्राप्य है –

(अ) कामूरपवत-श्रेणी—मध्य भारत की इन पवत-श्रेणियो म कुछ कन्दराय हैं जहा पर मृगया चित्र पाये जाते हैं — पुरातत्वान्वेषण की यह विज्ञप्ति है ।

(ब) विन्ध्य-पवत-श्रेणी—इन पवत-श्रेणियो की गुहाओ मे उत्तर-पाषाण-कालीन चित्र-निदशन प्राप्त हुए हैं । ये निदश न एक विशेष विकास के निदशक भी हैं कि वहा पर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये Art Studio हैं, जहा पर वर्णो को कूटने छानने एव विन्यास-प्रदातव्य बनाने के लिए उलूखलादि पात्र पाये गये हैं । पर्सी ब्राउन (दे० उनकी Indian painting) ने इस को Neolithic art studio के रूप मे उद्भावित किया है ।

(स) अन्य पवत-श्रेणिया, विशेषकर माड नदी के पूर्वीय क्षेत्र की ओर जो रायगढ स्टेट (मध्य प्रदेश) म सिहपुर ग्राम है, वहा पर अति प्राचीन चित्र प्राप्त हुए है, जिनमे रैखिक विन्यास, रक्ताभ वर्ण-विन्यास भी प्राप्त होता है । इन चित्रो मे चित्र्य मानव एव पशु दोनो ही के चित्र प्राप्त होते हैं । इन चित्रो को ब्राउन ने Heiroglaphics की सज्ञा म उद्भावित किया है ।

पशुओ मे हरिण गज खरगोश आदि के मृगया-दृश्य बडे ही मार्मिक चित्र यहा प्राप्त होते हैं । महिष-घात-चित्र बडा ही भयानक एव विस्मयकारी है जहा पर भालो से भसा मारा जा रहा है तथा जब वह मरणासन्न हो रहा है तो शिकारी आनन्दातिरेक से विभोर हो रहे हैं । ब्राउन की समीक्षा म इन चित्रो म haematite brush forms से रेखा-चित्रो एव वर्ण चित्रो की प्रगति अनुमेय हो रही है ।

(य) मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के समीप पवत-कन्दराओ के चित्र भी यही मृगया-चित्र-निदर्शन प्रस्तुत करते हैं । यहा पर लकड-बग्घा की मृगया विशेष विस्मयकारी है । अत इन्हें भी हम Haematite drawing के रूप में ही विभावित कर सकते हैं । आदि प्रागैतिहासिक निदशनो के उपरान्त अब आइये ऐतिहासिक निदर्शनो की ओर ।

ऐतिहासिक (पूर्व-ईसवीय)—पुरातत्वीय अन्वेषणा से प्राप्त ईसवीय

पूव ऐतिहासिक निदर्शनो मे सवप्रथम निदर्शन मध्यभारत के सिरगुजा-क्षेत्रीय रायगढ पवत मे स्थित प्रथित-कीर्ति जो जोगीमारा कन्दरा है, उसमे इन कन्दरा की दीवालो पर नाना चित्र प्राप्त होते है। आधुनिक विद्वानो के मत मे ये चित्र ईसवीय-पूव प्रथम शतक के कहे गये है। यद्यपि ये कुडय-चित्र बडे ही प्रोज्ज्वल एव प्रकप नही तथापि ये Frescoes का श्रीगणेश ही नही करते वरन लेप्य कम-कला (Plastic Art) की भी प्रक्रिया की स्थापना करते है। भवनो, ग्रामा पुरो एव पत्तनो के चित्रो के साथ साथ विशेषकर पशु, मृग जलीय-जन्तु—मकर-मत्स्य सभी प्राकृतिक दृश्य यहा चित्रित पाये जाते है। मेरी दृष्टि मे इस देश की आब-हवा चित्रो के चिर-काल-सहत्व क लिये अनुकूल नही है अत इही श्रेणियो मे अन्य स्थान भी है जहा कुडय-चित्र काफी विकास को प्राप्त कर चुके थे।

ईसवीयोत्तर—अस्तु इस किञ्चित्कर पूव-ईसवीय प्रागतिहासिक एव ऐतिहासिक दोनो के विहगावलोकन के बाद अब ईसवीयोत्तर काल की ओर चलते है, उन मे जसा पहले स्तम्भ म सकत हो चुका है उसी क अनुरूप इस युग का निम्नलिखित तीन कालो मे बाट सकते है —

१ बौद्ध काल,

२ हिन्दू-काल,

३ मुस्लिम-काल।

यहा पर बौद्धो को प्रथम तथा हिन्दुओ को द्वितीय स्थान देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू चित्र-कला से राज-पूतो (राजस्थानी तथा पजाबी पहाडी राजपूतो) की कला से तात्पय है जो बौद्धो के बाद विकसित हुई। दूसरी विशेषता यह है कि बौद्ध एव हिन्दू अर्थात राजपूती चित्र-कला की पृष्ठ-भूमि धम एव दशन था। इन दोनो के अन्ततम मे रहस्यवाद की छाया सवत्र दिखाई पडती है। जहा तक मुस्लिम काल की मुगल चित्र-कला का प्रश्न है, वह पूरी की पूरी धम-निरपेक्ष (Secular) थी। इस म यथाथवाद विशष रूप से दृश्य है।

यद्यपि राज-पूती चित्र-कला की विशेषता अर्थात धर्माश्रयता पर हम सकेत कर ही चुके है परन्तु इस कला में बौद्ध चित्र-कला की अपेक्षा यह और व्यापक क्षेत्र की ओर बढ गयी थी। वह केवल धार्मिक नाटकों आख्यानों उपाख्यानो क ही चित्रण म एकमात्र व्यस्त नही थी। इस चित्र-कला मे ग्रामीण

जीवन, सस्कार, विश्वास, सभ्यता एव सस्कृति का भी पूर्ण चित्रण किया गया है, जिस के द्वारा ये चित्र प्रत्येक गृहस्थ के लिये दैनिक चर्या मे परिणत ही गये। अब इस उपोद्घात के अनन्तर हम इन तीनों कालों को ले रहे हैं।

बौद्ध-काल—इस काल को हम ईसवीय उत्तर ५० से ७०० तक कल्पित कर सकते हैं और यह कला हमारे स्थापत्य एव चित्र मे स्वर्ण युग (Classical Renaissance) प्रस्तुत करता है। बौद्ध-धर्म ने न केवल भारत वरन द्वीपान्तर भारत को भी महान् विश्व-व्यापी धर्म-चक्र से प्रभावित कर दिया है। सिहल-द्वीप (लका), जावा, श्याम वर्मा, नेपाल, खोतान तिब्बत, जापान तथा चीन आदि मे प्राप्त पुरातत्वीय स्थापत्य एव चित्र निदर्शन इस प्रभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ वहां केवल धर्माचार्य धर्मोपदेशक—भिक्षु एव भिक्षुणी ही नहीं वरन कलाकार भी साथ थे। प्राचीन धर्म-रूप कलम की बात नहीं —वह लेखनी, तूलिका, विलखा की बात थी। कुण्डलीय चित्र-पटो (Pictorial Scrolls) के द्वारा गौतम बुद्ध के धर्म के वितरण के लिये उस समय प्रमुख साधन था। अस्तु अब हम यहा पर बौद्ध-कला को भारतीय स्तर पर ही रखना उचित समझते हैं। इन मे अजन्ता, सिगिरिया (सिहलो), बाघ ही विशेष उल्लेख्य हैं।

अजन्ता—अजन्ता के चित्र विश्व के अष्ट-विध आश्चर्यों मे परिकल्पित किया जा सकते है। तारानाथ की दृष्टि मे यह सब देव विलास हैं। कोई मर्त्य इस प्रकार के विस्मय कारक चित्र कैसे बना सका? अजन्ता का वातावरण देखिये—कितना शान्त, मनोमुग्धकारी, एकान्त, रम्य एव अद्भुत प्रदेश है। इस स्थान पर अध्यात्म, देवत्व, धर्म, दर्शन, चर्या एव नियम दीवालो पर अकित कर दिये गये हैं। अजन्ता के भौगोलिक एव अन्य विवरणों की यहा पर आवश्यकता नही। वैसे तो सारी की सारी सोलह गुफायें चित्रित की गयी थी, परन्तु काल-चक्र एव अन्य मौसमी तथा अन्य प्रभावो ने बहुतो को नष्ट कर डाला है। कवल छै गुफाए चित्रित प्राप्त हुई हैं—यह बात १९१० ई० की है। ये सारे के सारे चित्र-निदर्शन एक व्यक्ति, एक समाज, एक काल के अध्यवसाय नही माने जा सकते। अत हम इन चित्रो को निम्न तालिका में कालानुरूप विभाजित कर सकते है —

(अ) ९वी तथा १०वी गुफा-चित्र ईसवीय १००,

(ब) दशवी गुफा के स्तम्भ-चित्र ईसवीय ३५०,

(म) १६वी तथा १७वी गुफा के चित्र ईसवीय ५००

(य) पहली तथा दूसरी गुफा क चित्र ईसवीय ६२६-६२८।

विषय—इन चित्रो मे बौद्ध जातक साहित्य क ही मुर्ध य एव भविकल चित्रण है। वस कुछ चित्र समय का भी प्रतिबिम्बन करत हैं। मत क दरानुरूप इन विषयो का हम वग उपस्थित करते है —

कदरा न० १— १ शिवि-जातक,
२ राज-भवन-चित्र,
३ राज-भवन-द्वार पर भिक्षु-स्थिति,
४ राज-भवन,
५ राज-भवन-चित्र,
६ शख-पाल-जातक—साप की कहानी,
७ राज-भवन-चित्र—नतकिया (महाजन जातक),
८ महाजन-जातक—भिक्षु-उपदेश-श्रवण,
९ महाजन-जातक—अश्वारूढ राजा,
१० महाजन-जातक—पोत-मग्नता,
११ महाजन-जातक—राग एव वैराग्य,
१२ अमरादेवी की कहानी,
१३ पद्मपाणि बोधिसत्व,
१४ बुद्धाकषण,
१५ एक बोधिसत्व,
१६ बुद्ध-मुद्रायें एव विस्मय (Miracles) श्रावस्ती का विस्मय,
१७ वज्रपाणि—कमल-पुष्प-समपण,
१८ चाम्पेय-जातक,
१९ अनभिज्ञ चित्र,
२० राज-भवन-चित्र,
२१ दरबारी चित्र,
२२ मग-चित्र,
२३ वृषभ-युद्ध,

कन्दरा नं० २— १ अर्हत, किन्नर तथा अन्य गण आ बोधि-म व की पूजा कर रहे हैं,
२ बौद्ध भक्त-गण,
३ इन्द्र तथा चार यक्ष,
४ उड्डीयमान चित्र—पौष्पिक एवं भगिक चित्रों के साथ,
५ महिला-प्रवास (Exile),
६ महाहंस-जातक,
७ यक्ष एवं यक्षिणिया,
८ बुद्ध-जन्म,
९ पुष्प लिये हुए भक्त,
१० पुष्प लिये हुए भक्त,
११ नाग (अजगर), हंस तथा अन्य भगक चित्र,
१२ नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध,
१३ मैत्रेय (बोधिसत्व)
१४, भगवान् बुद्ध नाना मुद्राओं मे,
१५ भगक चित्र,
१६ अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व)
१७ पुष्पसहित भक्त-गण,
१८ पद्मपाणि भक्त-गण,
१९ हारीति तथा पांचिक,
२० विधुर-पण्डित-जातक,
२१ पूर्ण-अवदान-कथा—समुद्र-यात्रा,
२२ पूर्ण-अवदान-कथा—बुद्ध-पूजा,
२३ राज-भवन,
२४ राज-भवन-महिला क्रुद्ध राजा के चरणों पर,
२५ बोधिसत्व—उपदेशक-रूप,
२६ भङ्ग-चित्र,
२७ नाग, गण तथा अन्य दिव्य-चित्र।

कन्दरा नं० ६— १ बुद्ध का प्रथम-उपदेश (First Sermon),
२. द्वार-पाल तथा महिला भक्ता,

३ बुद्धाकर्षण,
४ एक भिक्षु;
५ द्वारपाल एव नारी-प्रतिहारिणिया,
६ श्रावस्ती का आश्चय।

कन्दरा न० ७—१ बुद्धोपदेश;
२ बुद्ध-जन्म;

कन्दरा न० ९—१ नागराज—सगण-सेवक;
२ स्तूप की ओर जाते हुये भक्त;
३ चैत्य एव विहार;
४ बुद्ध जीवन के दो दृश्य;
५ पशु-चित्र;
६ नाना मुद्राओ मे भगवान् बुद्ध,

कन्दरा न० १०—१ राजा का बोधि-वृक्ष-पूजाय आगमन,
२ राज-जलूस,
३ राज-जलूस;
४ श्याम-जातक-षडदन्त—हस्ति-कथा,
५ छद्दन्त-जातक—षड्दन्त हस्ति-कथा।
६ बुद्ध-चित्र;

कन्दरा न० ११— १ बोधि-सत्व—पद्मपाणि,
२ बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर;

कन्दरा न० १६— १ तुषिता स्वर्ग के चित्र—बुद्ध-जीवन
२ सुत सोम-जातक—सुदास सिंहनी प्रेम-कथा,
३ चैत्य-मन्दिर के सम्मुख दैत्य-गण,
४ महा-उम्मग-जातक,
५ मरणासन्ना राज-कुमारी (परित्यक्ता नन्द पत्नी),
६ नन्द का धर्म-परिवर्तन,
७ मानुष बुद्ध,

८ अप्सरायें तथा बुद्ध का उपदेशक रूप,
९ बुद्ध-उपदेश-मुद्रा,
१० हस्ति-जुलूस,
११ सघोपदेश—बुद्ध
११ बुद्ध-जीवन-चरित-दृश्य—मगध के राजा का आगमन बुद्ध का राजगृह मे भ्रमण
१३ बुद्ध-तपस्या—प्रथम ध्यान तथा चार मुद्रायें,
१४ राज-भवन,
१५ Conception,
१६ बुद्ध का शैशव,

कन्दरा न० १७— १ राजा का दान-वितरण,
२ राज-भवन,
३ इन्द्र तथा अप्सरायें,
४ मानुष बुद्ध तथा यक्ष एव यक्षिणिया,
५ बुद्ध की पूजा करती हुई अप्सरायें तथा गन्धर्व,
६ क्रुद्ध नीलगिरि हस्ति-राज का दृश्य;
७ बोधिसत्व अवलोकतेश्वर तथा भिक्षु-भिक्षुणी-व[illegible],
८ हस्तिनी के साथ यक्ष,
९ राजसी मृगया,
१० ससार-चक्र
११ माता एव शिशु—भगवान् बुद्ध एव अन्य बौद्ध देवा के निकट;
१२ प्रथम धम-चक्र,
१३ भग-चित्र,
१४ महाकपि-जातक
१५ हस्ति जातक,
१६ राज-खड्ग-प्रदान,
१७ दरबारी दृश्य;
१८ हस-जातक,
१९ शार्दूल, अप्सरायें तथा बुद्धोपदेश,

२० विश्वंतर-जातक—दानी राजकुमार,
२१ यक्ष, यक्षिणी एवं अप्सरायें,
२२ महाकपि जातक (२)
२३ सूत-सोम-जातक
२४ तुषिता मे बुद्धोपदेश—दो और दृश्य,
२५ बुद्ध के निकट मा और बच्चा;
२६ श्रावस्ती का महान आश्चय;
२७ शरभ-जातक
२८ मात-पोषक-जातक
२९ मत्स्य-जातक,
३० साम (श्याम)-जातक;
३१ महिष-जातक
३२ एक यक्ष—राज-परिक्षक-रूप;
३३ सिंहल अवदान
३४ स्नान-चित्र,
३५ शिवि-जातक,
३६ मृग-जातक;
३७ भालू-जातक,
३८ न्यग्रोध मृग-जातक
३९ दो वामन—वाद्य-यन्त्रो के सहित
४० भग्न चित्रण।

कन्दरा न० २१— १ कमल-वलि तथा अन्य पुष्प-विच्छित्तिया।

कन्दरा न० २२— १ सघ को उपदश करत हुए भगवान बुद्ध।

सरक्षण—इस तालिका के उपरान्त किस राज्य-काल म, किन कलाचार्यों के सरक्षण म इन चित्रो का निमाण हुआ यह भी विचारणीय है। तारानाथ की एतद्विषयणी उद्भावना का हम ऊपर सकत कर चुके हैं, तथापि वह पुनरावत्ति उचित है। जहा तक उत्तम बुद्ध-चित्रो की रचना का सम्बन्ध है वह देवो के द्वारा बताई जाता है। पुन यह चित्रण यक्षो (पुण्यजनो) के द्वारा आगे चलता रहा, जो अशोक-काल (ई० पूव २५०) की गाथा है। तीसरी परम्परा नागो के

द्वारा सम्बद्धित हुई जो नागार्जुन (ई० २००) के आधिपत्य में बताई जाती है। लगभग ३०० वर्ष में यह लड़ी टूट गई। फिर बुद्धपक्ष (५वीं तथा ६ठी शताब्दी) के काल में बिम्बसार नाम चित्राचार्य के द्वारा ये चित्र पुनः उसी देव-परम्परा मे रचे जाने लगे।

अब आइये ऐतिहासिक समीक्षा की ओर। जहाँ तक नवीं तथा दसवीं कन्दरा के चित्रों का प्रश्न है वह द्राविड नरेशों (आन्ध्र राजाओं) के काल का विकास है। इसे हम ई० पू० २७ से लगाकर २३६ ई० का काल मान सकते है। यह अजन्ता चित्रों का प्रथम वर्ग है।

दूसरा वर्ग (दे० गुहा नं० १६-१७) गुप्त-काल (३२० ई०) का प्रतिनिधित्व करता है। मेरी दृष्टि मे यह कला गुप्तों की अपेक्षा वाकाटकों की विशेष देन है।

तीसरे वर्ग में जहाँ हम राजा पुलकेशिन द्वितीय को एक पर्शियन दूत से मिलते हुए पा रहे है उससे यह वर्ग ६२६-६२८ ई० के समय का संकेत करता है। अब आइये द्रव्य एवं क्रिया की ओर।

चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—जहाँ लेप्य एवं प्लास्टर आदि प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे यथा-प्रतिपादित शास्त्रीय विश्लेषणों के ही निदर्शन हैं। जहाँ तक इन कुड्य-चित्रों की व्यापक समीक्षा का प्रश्न है, उसमे भारतीय एवं योरोपीय-ऐशियाई दोनों पद्धतियों की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है। यहाँ पर हम इतना ही संकेत कर सकते हैं कि ये कुड्य-चित्र भारतीय शास्त्रीय प्रक्रिया के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्येक वर्ग के चित्रों के लिये जैसा भूमि-बन्धन हमारे शास्त्रों मे प्रतिपादित है वही यहाँ पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। चूंकि आधुनिक कला-समीक्षक हमारे शास्त्रीय विवरणों (चित्र-लक्षणों) से सर्वथा अपरिचित थे, अतः उनके मस्तिष्क में योरप-एशिया के प्रथित चित्र-पीठों पर प्रर्दर्स ऐसे निदर्शनों के कारण उन के लिये संकट उपस्थित हो गया, अतः उन्हें इस तुलनात्मक समीक्षा की ओर जाना पड़ा और अन्त मे उन्हें झक मार कर भारतीय पद्धति के निष्कर्षों पर पहुंचना पड़ा। इस तुलनात्मक समीक्षा मे पर्सी ब्राउन ने विशेष विवरण दिये हैं। वे उन्हीं के ग्रन्थ में एवं मेरे Hindu Canons of Painting or Citra-Lakṣaṇam and Royal Arts—Yantras and

Citras मे द्रष्टव्य हैं।

वण-विन्यास एव तूलिका-चित्रण—य सब अपने ही शास्त्रो क प्रतीक है। विशेष विवरण यथा-निर्दिष्ट ग्रथो मे देखिये। अब आइये अ त म मरी समीक्षा की ओर।

शास्त्र एव कला—अज ता के चित्रो की सब प्रमुख विशेषता रेखा-क्रम है। विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का हम सकेत कर ही चुके हैं —

> रेखा प्रशसन्त्याचार्या वतना च विचक्षणा ।
> स्त्रियो भूषणमिच्छ ति वर्णाढयमितरे जना ॥

अत अज ता के चित्रो मे रेखा-क्रम परम प्रकष का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अज ता की चित्र-तालिका मे प्राप्त विषयो को लेकर इस महान प्रख्यात पीठ पर जाइय और देखिये—महाहस-जातक-चित्र एव उसी चैत्य मे बाधिसत्व-अवलोकितश्वर अथवा बुद्ध का वैर ग्य (The Great Renunciation) जिन म सर्वाधिक वैशिष्ट्य रेखा-कम है तथा वहा रूप-चित्रण (Modeling of Form) भी हमारे चित्र-शास्त्र के सव-प्रमुख क्षय-वृद्धि चित्र-सिद्धान्त का पूण प्रतिबिम्बन कर रहा है।

वण-वि-याम भी हमार शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन है। महा-हस-जातक-चित्र मे जो वण-वि-यास विशेषकर नीली का वि-यास किया गया है, वह राजावर्ताभिष वण का प्रतीक है। राजावत-राजावत-लजावर लाजवर्दी के सम्ब-ध मे हम अपने पूव स्तम्भ मे पहले ही समीक्षा कर चुक हैं। जहा तक अ-य शास्त्रीय सिद्धा तो क अनुगमन का प्रश्न है वहा प्रतिमा एव चित्र दोनो के सामा-य अग जैस मुद्रायें वे भी इन चित्रो मे पूण रूप से विभाव्य हैं। गुहा न० १ के राज-भवन-चित्र मे जो मुद्रा-विनियोग प्राप्त होता है वह बडा अ.कषक है। इसी प्रकार अ-य चित्रों मे भी नाट्य, नृत्य, एव सगीत मुद्राओ का भी बहुत विनियोग प्राप्त होता है। अस्तु अज ता चित्रो के इस स्थूल समीक्षण के उपरा त अब आइये दूसरे चित्र-पीठ की ओर।

सिहल-द्वीप—सिगरिया—इस पीठ के चित्रो की सव-प्रमुख विशेषता है धम-प्रेरणा का अभाव। इन चित्रों मे लगभग बीस नायिका-चित्र हैं। ये चित्र

सिहल द्वीप के राजा काश्यप (४७६-४६७ ई०) के समय मे चित्रित किये गये थे। मेरी धारणा है कि ये रानियो के चित्र हैं। जहा तक चित्रण-प्रकार एव प्रक्रिया की बात है वे सभी शास्त्रानुरूप हैं। इन मे सर्वाधिक वैशिष्ट्य सौन्दर्य है। इन चित्रो मे लक्षण एव चित्र-कौशल दोनो प्रत्यक्ष दिखाई पडते हैं। ब्रुश और छुनी दोनो की कला के ये मिश्रण है।

बाघ—वैसे तो अजन्ता से सीधी दिशा मे लगभग १५० मील की दूरी पर यह चित्र पीठ स्थित है परन्तु नर्मदा दोनो के बीच बहती हुई इनको पृथक् भी कर रही है। अत इन दोनो के सरक्षण की पृथक्ता भी सुतरा प्रकट एव समर्थित है। इस पीठ पर न तो कोई शिला-लेख प्राप्त है न कोई ऐतिहासिक सूचना। इस पहाडी के एक विशाल हाल मे नाना चित्रो का चित्रण हुआ था। यह सभा-वेश्म लगभग ६० फट चौकोर है। इस के स्तम्भ, कुड्य अर्थात भित्तिया सभी चित्रो से चित्रित थे, परन्तु बहुत से चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रो मे अजन्ता और सिगरिया दोनो का मिश्रण प्राप्त होता है—एक ओर कुछ बौद्ध धर्म प्रतीक चित्र, दूसरी ओर धर्म निरपेक्ष चित्र। बौद्ध चित्रो में बौद्ध धर्म के इस देश मे ह्रास कालीन अवस्था के चित्रण है। एक सगीत-नाटक (हल्लिसक) पूर्ण तत्कालीन स्वातन्त्र्य एव स्वाच्छन्द्य का निदर्शन है। अब चलें हिन्दू काल की ओर, जहा महाकाल तथा शोभित अकाल के भी दर्शन हो सकते हैं, क्योकि जैसा हम पहले सकेत कर चुके हैं कि हिन्दू चित्र-कला से तात्पर्य राज-पूत-कला का अर्थ है। और यह राजपूतानी कला न केवल राज-स्थान की देन है वरन पजाब (देखिये कागडा) की भी प्रमुख देन है।

हिन्दू-काल (७००-१६००)—इस काल मे नाना सम्प्रदायो एव पन्थों के निदर्शन मिलते हैं। ये चित्र ताल-पत्र की प्रथम विशेषता हैं। इस का प्रारम्भ बगाल मे हुआ, जो १२वी शताब्दी के निदर्शन हैं। पुन १५वी शताब्दी मे जैन-ग्रन्थ-चित्रण (Book Illustration) काफी प्रसिद्ध एव सिद्ध-हस्त चित्रकार भी थे। जहा तक ब्राह्मण-चित्रो की बात है वह १२वीं शताब्दी मे एलोरा के गुहा-मन्दिरों से प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार और बहुत से इस काल मे यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्र प्राप्त हुए हैं, जो पूर्व-मध्य काल एव मध्य काल की स्मृतिया हैं। राजपूती चित्र-कला तो उत्तर-मध्यकाल की कृतिया हैं। अब हम इस साधारण प्रस्तावना के उपरान्त वैयक्तिक निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं।

जन-चित्र—ताल पत्र पर हस्तलिखित निशीथ चूर्णी जो चित्रो से चित्रित है वह जैन-भाण्डागार म प्राप्त है तथा यह कृति ११वी शताब्दी मे सिद्धराज जयसिंह के राजत्व-काल मे सम्पन्न हुई। यह ताल पत्र चित्रण ११वी स लेकर १४वी तक चलता रहा। इन म अग-सूत्र त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित श्री नेमिनाथ-चरित श्रावण प्रतिक्रमण-चूर्णी—ये सब ११वी से १४वी शताब्दी तक क निदशन है। अब आइये (१४००-१५००) जन चित्रो की ओर। उनम कल्प-सूत्र, कालकाचाय-कथा तथा सिद्ध हम—ये सभी चित्रित हस्त लिखित ग्र थ है जो पाटन आदि प्रसिद्ध जैन भाण्डागारो मे प्राप्त ह। अभी तक हम ताल-पत्र पर चित्रित इन इलस्टटड म्यनुस्क्रिप्ट्स की अवतारणा कर रहे थे। अब आइय कगल-पत्र पर चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ। ज्यो ही १२वी ई० क उपरान्त कागज का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो फिर जैन चित्रो का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन म कल्प-सूत्र तथा कालकाचाय-कथा असख्यो पत्र-चित्रणो क साथ साथ हिन्दू प्रम-मय गाथा काव्यो के भी चित्रण प्रारम्भ हो गये, जिनमे बसन्त विलास एव रति-रहस्य क साथ साथ स्तोत्र एव स्तुति-परक ग्रन्थ जैसे बालगोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-सप्त शती ऐसे प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थ भी चित्रणो स भर गय। इन सभी चित्रो म रैखिक चित्रो की सुन्दर आभा दशनीय है। ये Oblong Frame के निदशन हैं। रक्त, स्वर्णिम, पीत, श्याम, शुभ्र, नीली, हरित तथा अन्य सभी शुद्ध एव भिन्न वर्णो का पूण विन्यास दशनीय है।

अस्तु इस पूव एव उत्तर मध्यकाल मे यत तक्षण (मूर्ति-निर्माण) एव प्रासाद-वास्तु का चरमोन्नति काल था अत ये बेचारी चित्र-कला एक प्रकार से कुछ धीमी पड गयी। तथापि यह कला मरी नही। यह कला द्वीपान्तर भारत एव सीमावर्ती देशो मे एक प्रकार से प्रयाण कर गई। वहा पर इस कला क बडे ही प्रौढ निदशन प्राप्त होते हैं। पूर्वी तुर्किस्तान (खोटान) तथा तिब्बत में जो चित्र-कला विकसित हुई उस पर अजन्ता की कारीगरी पूण रूप से प्रति-बिम्बित दिखाई पडती है। स्टीन और ली काग के इन चित्र-अन्वेषणो ने समस्त ससार को मुग्ध कर दिया है कि एशियाई चित्र-कला कितनी प्रवृद्ध थी। कुड्य-चित्रो के अतिरिक्त कुण्डली-चित्र-पट-चित्र एव पट्ट-चित्र सभी भेद इन चैत्यो, मन्दिरों एव विहारो विशेषकर तिब्बती पीठो मे काफी सख्या में प्राप्त होते हैं। अब आइये राजपूताने चित्रकला की ओर।

राजपूत चित्र-कला—राजपूती तथा मुगली दोनो ही चित्र कलायें समानातर चलने लगी थी। इन दोनो कलाओ का उद्भव १६वी ईसवी शताब्दी (१५५०) मे प्रारम्भ हुआ था। राजपूती तो १६वी शताब्दी तक चलती रही, परन्तु मुगली १८वी मे मर गई, क्योकि यही काल मुगलो के काल की इतिश्री थी।

राजपूती कला पर पूर्ण प्राचीन शास्त्र एव कला दोनो का प्रभाव था। यद्यपि अजन्ता का प्रभाव अवश्य दिखाई पडता है तथापि नवीन उपचेतनाओ तथा उद्भावनाओ का भी इस मे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत होता है। अत बुद्ध धर्म एक प्रकार से इस समय खतम था तो हिन्दू धर्म के पुनरावर्तन (Revival) मे स्वाभाविक चेतनाओ के द्वारा इस कला का विकास स्वत सिद्ध है। यह युग शिव-पूजा शिव-माहात्मय तथा विष्णु-पूजा एव विष्णु माहात्म्य का था। भक्ति धारा एक भागीरथी की उद्दाम गति से बहने लगी। राधा कृष्ण लीला का यह युग था, जिस मे रास-लीला, नायक-नायिका लीला बडे ही प्रकर्ष को प्राप्त हो गयी। शिव पार्वती, स ध्या-गायत्री, रामायण एव महाभारत के आख्यान चित्र ये सब राजस्थानी कला के परम निदर्शन हैं। अत ये सब चेतनायें जन-भावना की प्रतीक थी। अत यह चित्र-कला राजस्थान मे एक प्रकार से दैनिक व्यवसाय तथा अध्यवसाय हो गया था। राजस्थान का प्रमुख नगर जयपुर इस राजपूती कला का केन्द्र बन गया। अतएव इस राजस्थानी चित्र-कला को जयपुर कलम की सज्ञा से चित्रकार पुकारने लगे। ये राजस्थानी चित्रकार दरबार के अभिलाषुक थे। पुन मुगल दरबार की राजधानियो उप-राजधानियो जैसे दिल्ली आगरा लाहौर आदि नवाबी शहरो मे भी यह कला अपनी विशिष्टता से पूर्ण होती रही।

राजपूती चित्र-कला सर्वाधिक प्रकर्ष पजाब की हिमाचल उपत्यकाओ म एक नवीन प्रकर्ष पर आसीन हो गयी। कागरा की चित्र-कला इस युग की महती देन मानी गयी है। जिस प्रकार जयपुर कलम, उसी प्रकार कागरा कलम से यह राजपूती चित्रकला विश्रुत हुई। इस पजाबी राजपूती कला मे रैखिक कम, वर्ण-विन्यास तथा प्रोज्ज्वल भगिमा छाया-कान्ति आदि सभी षडग-चित्र क सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओ का पूर्ण आभास एव विलास प्राप्त होता है।

इस कागरा केन्द्रीय राजपूती चित्र-कला की सब से बडी विशेषता

राजश्रय थी प्रदगीय (Local) ग्रावश्यकताग्रो एव चेतनाग्रो तथा रस्म-रिवाजो का भी इन चित्रणो मे साक्षात प्रतिबिम्बन है। पहाडी राजाग्रो की ग्राज्ञा ही चित्रकार के लिये उसका सब मे बडा अध्यवसाय था। अतएव इन चित्रो म राजसी—राजा रानियो के बहुत से चित्र प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ पौराणिक एवं भागवतिक चित्र भी प्रचुर सख्या मे प्राप्त होते हैं।

दुर्भाग्य का विलास था कि धम शाला के भू कम्प विप्लव से इन समस्त चित्र-केन्द्रो एव उनम विनिर्मित, सग्रहीत असख्य चित्र नष्ट हो गये, भूगत मे विलीन हो गये तथा यह बडी थाती नष्ट-प्राय हो गई। यह घटना १९०५ ई० की है। अब ग्राइय मुगल कला की ओर।

मुगल चित्र-कला—राजपूती चित्र कला धार्मिक जनोपयिक तथा रहस्यवादी कला थी जहा मुगली चित्र-कला नवाबी तथा यथार्थवादी कही जा सकती है। मुगल सम्राट अकबर क दरबार मे यह कला प्रारम्भ हुई, क्योकि कला सरक्षक अकबर की इन कलाग्रो मे बडी रुचि थी, अतएव अनक विदशी कलाकार तथा चित्रकार अकबर क दरबार म ग्रा बिराज। ईरान फारस, समरक द ग्रादि स्थानो मे प्रालम्बित चित्र-कला-केन्द्रो म शिक्षित एव दीक्षित चित्रकार इस दरबार के रत्न बन गए। अबुल फजल की ग्राइने-अकबरी म इन चित्रकारो की बडी सख्या का निर्देश है। फरूख अब्द-ग्रल-समद, शेराजी, मीर सय्यद ग्रादि पकबरी दरबार के चित्रकार-रत्न थे। जहागीर ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उस समय समरकन्द के कई चित्रकार यहाँ ग्रा पहुचे। शाहजहा विशेषकर स्थापत्य म तल्लीन हो गया तो इस चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पुन औरगजब तो इन कलाग्रो का पूर्ण उन्मूलन का दोषी बना।

यद्यपि मुगल चित्र कला पर ईरान का अमिट प्रभाव है, तथापि देश की सस्कृति एव जनीन धारा का प्रखर प्रभाव कभी कोई हटा नही सकता। अत यह कला इस देश की इन दोनो धाराग्रा म समन्वित होकर विलसित हुई। बहुत से मुगल चित्र-कला के विख्यात हिन्दू चित्रकार भी इस कला को प्रोल्लास देन के श्रेय-भागी हैं। इन म बसवन, दशवन्त, केशोदास ग्रादि चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मुगली चित्रो की सबसे बडी विशेषता चित्र फलक हैं। मृगया एव

युद्ध भी इन चित्रो के प्रमुख ग्रग हैं। दरबार तथा एतिहासिक इतिवत्त भी इन चित्रो के पूर्ण ग्रग है। यद्यपि इस कला का प्रथम विकास ईरानी कलम से प्रारम्भ हुआ पर तु काला तर पाकर इस कला का प्रोल्लास, जैसा पहले हम सूचित कर चुके है दहली कलम लखनवी कलम, पटना कलम काश्मीरी कलम आदि अवान्तर कलमो म प्राप्त होता है। अत मुगली कला काफी पवद्ध एव प्रोल्लसित हो गयी।

एक प्रश्न यह है कि क्या मुगल कला न ही Portrait Pain ing का प्रारम्भ प्रदान किया —नही। चित्र-फलक चित्रण महाभारत की कहानी से स्पष्ट है। चित्र-लेखा (प्रथम चित्रकार) ने अपनी सहेली उषा के स्वप्न युवक का प्रथम फलक-चित्र Portait Painting का श्रीगणश किया था। बौद्ध इतिहास से भी हम अपरिचित नही कि जब भगवान बुद्ध के घोर अनुयायी एव भक्तप्रवर महाराज अजातशत्रु ने अपने मास्टर के चित्र की प्राथना की तो उन्होने केवल अपनी पट पर पडती हुई छाया क चित्र को चित्रित करन क लिय ही स्वीकृति प्रदान की तो तत्कालीन प्रबुद्ध चित्रकार न उस छाया म इस विधा क चित्र को तूलिका क द्वारा वर्ण-वि यास मे परिणत कर ऐसे चित्र का निर्माण कर दिया। अज ता के भी ऐसे Portraits को देखें जिनकी महिमा पर पहले ही कुछ इगित कर चुके है।

इस किञ्चत्कर व्यक्ति-चित्रो के इतिहास पर इस थोडे से उपोद्घात क अनन्तर हम यह अवश्य मानेंगे कि मुगलो की चित्र-कला ने इस चित्र विधा पर बडी भारी उन्नति की। राजाओ, महाराजो, नवाबो रानियो, दरबारियो क वयक्तिक चित्रो मे जो आभा प्रदर्शित की है, वह सर्वप्रमुख इन चित्रो की विशेषता है। पूरा आकार-प्रतिबिम्बन इस प्रमुख विशषता के साथ महापुरुष लाञ्छन (मण्डल-प्रभा) तथा राज चि ह आदि भी इन चित्रो के बड़े अर्थपूर्ण व्यायक ग्रग हैं। इन मुगल-कालीन चित्रो मे नतकियो, वश्याओ, साधुओ सन्तो, सिपाहियो दरबारियो सभी के वैयक्तिक चित्रो की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह मुगल चित्र-कला यथानाम मुगलकला नही है इसे हम राष्ट्रीय चित्र-शाला के नाम से पुकार सकते है और इसकी अभिख्या अ राष्ट्रीय कीर्ति-प्रस्तर पर मूल्याकन हो सकती है।

*१८वीं शताब्दी (१७६० ई०) में जब यह मुगल कला मुगल-साम्राज्य क साथ ह्रास को प्राप्त हुई तो यहा के कुछ समझदार कला-प्रेमियो ने इसके

पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किया। कला का पुनरुत्थान जब इस आधुनिक युग में प्रारम्भ हुआ तो इस में सबसे बड़ी प्रेरणा रसास्वाद आदर्श (Aesthetic Ideal) की ओर था। अवनीन्द्र नाथ टैगोर को ही इस उद्भावना का श्रेय है। इस प्रकार बंगाल के साथ साथ दिल्ली लखनऊ पंजाबी पहाड़ी कलाकार—पंजाब खास कर लाहौर तथा अमृतसर पटना इन उत्तरापथ प्रदेशों के साथ साथ दक्षिण भारत में भी जैसे औरंगाबाद दौलताबाद, हैदराबाद और निकोंडा में भी यह आधुनिक कला अपने पुनरुत्थान पर पहुंच गई। तारानाथ ने अपने चित्र कला-इतिहास में दक्षिण के प्रसिद्ध-कीर्ति तीन चित्र-कारों में नय पजय तथा विनय का नामोल्लेख किया है। इनके बहुत से अनुगामी भी थे। दुर्भाग्य वश इनके समय के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं उपस्थित होता। आगे चलकर इस दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध चित्र-पीठ पनप उठे जिनको तंजौर और मैसूर के नाम से कीर्तित करते हैं।

अवनीन्द्र नाथ ने यद्यपि इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया परन्तु मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि उन्होंने अपनी पुरानी थाती अर्थात् शास्त्रीय सिद्धान्त एवं परम्परागत कला प्रक्रिया इन दोनों को चन्द्र हस्त देकर योरुप के अनुगामी होने का बीड़ा उठाया। इस कदम ने भारत की चित्र-कला को इस नवीन सम्प्रदाय ने एक प्रकार से धूल धूसरित कर दिया। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य इन दोनों कलाओं की अपनी अपनी मूल भित्तियां थीं और दोनों में काफी मौलिक भेद भी थे। अतः इन दोनों का मिश्रण कला सिद्धान्त एवं कला-प्रक्रिया की दृष्टि से यह बहुत बड़ा गलत कदम था। अतः इस युग में हमारे पुराने चित्र नहीं रह। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि आज जहां भी विश्वविद्यालय अथवा चित्र-विद्यालय अथवा कला विद्यालय की ओर जाइये वहां सभी स्थानों पर न तो किसी को प्राचीन चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों का ज्ञान है न आस्था है। वे भी पश्चिम के पीछे परछाई की दौर प्रयास कर रहे हैं। यह सब विडम्बना है। आशा है आज नहीं तो कल वे अपने इस पुराने अत्यन्त प्रवृद्ध पारिभाषिक ज्ञान का सहारा लेकर ही अपनी कला को विश्व के सामने रखने में समर्थ हो सकेंगे।

साहित्य-निबन्धनीय चित्र-कला के इतिहास पर एक सिंहावलोकन

उपोद्घात —ग्रीक माइथोलोजी म म्यूजज आफ फाइन आर्टस भूतल पर एक क बाद एक नगी उतरी । अत हमारे देश म भी महामाया भगवती सरस्वती तथा महामायिक भगवान नटराज शिव भी क्या एक के बाद दूसरे स्वग स भूतल पर उतरे ? ताण्डव नत्य अतिप्राचीन है । काव्य, नाट्य, सगीत भी अतिप्राचीन है । तथैव वास्तु, शिल्प एव चित्र भी उतन ही प्राचीन हैं । य ललित कलायें सभ्यता एव सस्कृति के अभिन्न अग हैं । अत पुरातत्वीय उपोद्घात म हमने सकेत किया है कि यह मनोरम-कला चित्र-कला—क्या साहित्यिक क्या पुरातत्वीय दोनो स्तरो पर एक प्रकार से समानान्तर सुदूर अतीत से चली आ रही है ? पुरातत्व स्तर स इसकी समीक्षोपरान्त अब हम साहित्यिक-निबन्धनीय इतिहास पर आते हैं हमने अपने अग्रजी के ग्रथ मे जो निम्न आकूत प्रस्तुत किया है उसको पाठक एव विद्वान् दोनो ही अवश्य ही समर्थन करेंगे—

If the savages could work sculpture and build branch-houses prepare implements paint the cavewalls (their refuse) and do many other things painting and allied arts must have been the time-honoured companions in the progress of civilisation throughout the ages

अस्तु अब हम वदिक वाङमय से प्रारम्भ करते हैं ।

वैदिक वाङमय —ऋग्वद की बहुत सी ऋचाओ मे चित्र-कला की स्पष्ट भावनाय प्राप्त होती हैं । उपनिषदो मे बहुत से ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं जसे छान्दोग्य म इसी का ४ ४ पढ ती वहा पर रक्त, शुभ्र, श्याम वर्णों पर यद्यपि उनकी प्राज्ज्वलता से ऐदम्पय नही परन्तु 'रूप' से है जो कि चित्र-कला का प्रमुख अग है ।

पाली वाङ्मय—विनय-पिटक म वर्णित राजा प्रसेनजित के विलास-भवन म चित्रागारो के बडे सुन्दर वणन प्राप्त होते है । विनय-पिटक का समय ईसवीय पूव तीसरी या चौथी शताब्दी है । सयुक्त निकाय में पट्ट-चित्रो पर चित्रित पुरुष एव स्त्री चित्रो के सुन्दर वणन प्राप्त होते हैं । विविध चित्र-प्रकारो पर यह सदभ अति प्राचीन माना जा सकता है । जातक-साहित्य मे भी इस प्रकार के बहुत से सदभ प्राप्त होते है । अब आइये रामायण और महाभारत की ओर ।

रामायण एव महाभारत—आदि-कवि बाल्मीकि-कृत रामायण पढ़िये,

जिस में कोई भी ऐसा विमान, सौध, प्रासाद का वर्णन बिना चित्र भूषा के नहीं पाया गया है। राज-भवनो के विन्यास मे चित्रागार अभिन्न अंग थे। महाभारत में कुमारस्वामी ने लगभग १०० चित्र-सन्दर्भों का सकलन किया है। तारानाथ को इस सम्बन्ध मे हम ने इस ग्रन्थ मे दो तीन बार स्मरण किया है। तारानाथ तिब्बती इतिहास-लेखक १७वी शताब्दी मे पैदा हुए थे जिन्हों ने चित्र कला को अति-प्राचीन माना है अर्थात् देवो की चित्रकला, यक्षो की चित्रकला तथा नागो की चित्रकला।

पुराण—पुराणो मे चित्र कला के सम्बन्ध मे असख्य सदर्भ भरे पडे हैं। पुराणो की चित्र-कला के शास्त्रीय प्रतिपादन मे सब से बडी देन पुराणो की है। महा-विष्णु-पुराण के विष्णु धर्मोत्तर के चित्र-सूत्र से सभी कला विज्ञ परिचित हैं।

शिल्प-शास्त्र—शिल्प-शास्त्रीय चित्र-प्रतिपादन मे हम इस अध्ययन के प्रथम स्तम्भ में पहले ही सकेत कर चुके हैं। अब आइये कवियो और काव्यो पर। वैसे तो प्राय सभी नाटको तथा काव्यो मे चित्र-कला के सम्बन्ध मे बहुत स सन्दर्भ प्राप्त होते हैं परन्तु कालानुरूप हम केवल कवि-पुगवो को लेते हैं जो निम्नतालिका से विवेच्य हैं —

१ कालिदास	२ बाणभट्ट	३ दण्डी
४ भवभूति	५ माघ	६ हर्ष-देव
७ राजशेखर	८ श्रीहर्ष	९ धनपाल
१० सोमश्वर सूरि		

कालिदास—कालिदास के तीनो नाटको में तीनो प्रमुख कलाओं का पूर्ण प्रतिबिम्बन प्राप्त होता है। मालविकाग्नि-मित्र नृत्य का, विक्रमोवर्शीय सगीत का तथा अभिज्ञान शाकुन्तल चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनो नाटको से उद्धत निम्न अवतरणो को पढिए, जिन से पूरे का पूरा शास्त्र एव तदनुप्राणित कला करामलकवत दिखाई पडती है। चित्राचार्य, चित्रागार, चित्र-प्रकार, वर्तिका-नैपुण्य, चित्र भूमि-बन्धन वर्ण विन्यास तूलिका लेखन छाया-कान्ति क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त, चित्रो मे मुद्रा-विनियोग आदि आदि सभी विषयो पर ये उदाहरण साक्षात मूर्तिमान् चित्र-विधान के प्रत्यक्ष निर्देशन हैं —

चित्रशाला

'चित्रशाला गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागा चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल १

'विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः प्रासादास्त्वां तुलयितुमलम्'—मेघ०

चित्राचार्य

चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल०

चित्र

(क) फलक चित्र (Portraits) —

'तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥'—रघु०

'वाष्पायमाणो बलिमान्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ।'—रघु०

'सखि ! प्रणम भर्तारं, य पार्श्वतः पृष्ठतः दृश्यते ।'—माल०

(ख) भावगम्य-चित्र —

'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।'—अभि०

(ग) याथातथ्य-चित्र —

अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता । जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति'—अभि०

(घ) प्रकृति-चित्र —

'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्' ॥—अभि०

(ङ) पत्रालेखन-चित्र —

'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥—मेघ०

(च) अंग-लेखन-चित्र :—

'हरे कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥'

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥

भूमि-बन्धन (पट्ट चित्रीय) —
'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥'—मेघ०

भूमि बन्धन (कुड्य-चित्रीय)—
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥—रघु०

वर्तना-प्रक्रिया

(अ) भूमि-बन्धन —
'ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ॥

(ब) अण्डकवर्तन एवं मानसिक-कल्पन —
'चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥'

तूलिका-उन्मीलन

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमा० १ ३२

क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त

स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु'—अभि० ४

वर्तिका

दे० अभि० शा० 'वर्तिकानिपुणात् ।
दे० अभि० शा० 'वर्तिकोज्ज्वला च' अंक ६।

चित्र-द्रव्य

देखिये अभि० शा० अ० ६ — 'वर्णिका-करण्ड'—A Colour Box to preserve colours in ॥

चित्र-वर्णा —शुद्ध-वर्णा

पातासितारक्तसितै सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
प्रमत्तग घवपुर्गेदयभ्रम बभार भूम्नोत्पतितैरितस्तत ॥ —कुमा०
'नेत्रा नीता सततगतिना यद्विमानग्रभूमी-
रालेख्याना स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्य ।
शङ्कास्पृष्टा इव जललवमुचस्त्वादृशो जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥'—मेघ०
'स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिन ।
अश्रु च कपोलपतित लक्ष्यमिद वर्तिकोच्छ्वासात ॥'—अभि०

चित्र-मुद्रा

व्यूह्यस्थित किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानु ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमान ॥—रघु० १८ ५१
'स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टि नतासमाकुञ्चितसव्यपादम्' —कु० ३
तस्य निर्दयरतिश्रमालसा कण्ठसूत्रमपदिश्य योषित ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तर पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु० १९ ३२

चित्र्यावयव

व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध सालप्राशुर्महाभुज ।
आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रित ॥ —रघु० १ १३
युवा युगव्यायतबाहुरसल कपाटवक्षा परिणद्धकन्धर ।
वपु प्रकर्षादजयद् गुरु रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥—रघु० ३ ३४
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्न ॥—कुमा० १ ३५
दीर्घाक्ष शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावसयो
सक्षिप्त निविडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ॥

मध्य पाणिमितो नितम्बिजघन पादावरालागुली ।
छदो नर्तयितुर्यथैव मनस श्लिष्ट तथास्या वपु ॥—माल० २ ३

चित्र-प्रतीकावलम्बन

'राजा—वयस्य ! अन्यच्च, शकुन्तलाया प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृत-मस्माभि ।

विदूषक —किमिव ?

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत् सदृश भविष्यति ।

राजा—कृत न कर्णार्पितबन्धन सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमल मृणालसूत्र रचित स्तनान्तरे ॥—अभि०

'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम् —अभि० १

'सखि, रोचते ते मेऽय मुक्ताभरणभूषितो
नीलाशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेश '—विक्र० ७

वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धु ।
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णै ॥

सौभाग्य ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती।
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्य ॥'—मेघ०

त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वय कदाचिदेते यदि योगमर्हत ।
वधूदुकूल कलहसलक्षण गजाजिन शोणितबिन्दुवर्षि च ॥- कुमा० ५ ६७

'आमुक्ताभरण स्रग्वी हसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्य स राज्यश्रीवधूवर ॥—रघु० ११ २५

'सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगरुपायै ।
हरिरिव युगदर्घैर्दोर्भिरशैस्तदीयै पतिरवनिपतीना तैश्चकाशे चतुर्भि ॥'
—रघु० १० ८६

'वित्तेशाना न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ।'—मेघ०

'सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्ग ।'—मेघ०

'न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दा गतिमश्वमुख्य ॥—कुमा० १

चित्र-विषय-क्षेत्र-उद्देश्य

'सखि ! तदा ससभ्रममुत्कण्ठिताद् भर्तृ रूपदर्शनेन तथा न वितृष्णास्मि

यथाद्य विभावितश्चित्रगतदर्शनो भर्ता ।'—माल० ४

'अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनश्चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-विनियोगं करोति ।' —अभि० ४

'प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
'अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ।"
—रघु० १८.५३

चित्र-दर्शन (Philosophy of the Fine Arts)

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यरेखया किञ्चिदन्वितम् ॥'—अभि०
'चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥'—माल० २,
'पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ —माल० १

बाण भट्ट

हमने अपने इस अध्ययन में पहले ही लिख दिया है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्-सर्वम्' का क्या अर्थ है ? बाण-विरचिता दिव्या कादम्बरी तथा राजसी हर्षचरित—इन दोनों महाकाव्यों में चित्रों का विलास पद पद पर दिखाई पड़ता है। बाण का वर्ण-चित्रण वर्ण-भेद शिल्प रत्न के निम्न उद्घोष का पूर्ण प्रमाण है —

जंगमा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ॥'

बाण-भट्ट ने अपनी जीवनी पर (देखिये ह० च०) जो लिखा है, उसमें बाण के साथियों की तालिका देखिये, उसमें चित्रकृद्वीर-वर्मा का उल्लेख है। अतः उनका पर्यटन बिना चित्रकार के पूर्ण नहीं था।

बाण-भट्ट के राज-भवनों के वर्णन में जो चित्र-शालायें वर्णित हैं वे विमान-शैली पर निर्मित प्रतीत होती हैं। नारद-शिल्प में जो चित्र-शाला का शास्त्रीय विवेचन है, उसी के आधार पर ये विभाव्य हैं। निम्न उद्धरणों को पढ़िये जिस में चित्र-विषय, **चित्र-प्रकार**, भूमि-बन्धन, द्रव्य प्रक्रिया, दर्श-

वन्यास आदि आदि सभी शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्तिमान् दिखाई पडते है

चित्र-शाला-निर्माण

'सरासुरसिद्धग न्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभि
दिव्यविमानपंक्तिभिरिवालकृता ।'—का पृ ६६

चित्र-शिल्पाचार्य

'सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम् ।'—ह च १४२
'सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृतै सूत्रधारै ।'—ह च १४२

चित्र-प्रकार

कुड्य—'चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम् —का १७६
'आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतसनाथितै '—का २४७
'प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिपतिदैवतम् ।'—ह १४८
,सुप्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयाञ्चक्रु ।'
—ह १२७
आलेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रमणद्भि सतप्यमनचरणौ ।'—ह १३६
'दिवसावसानेषु— चित्रभित्तिविलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि ॥'—का ४४६

फलक (Portraits) —
प्रत्यग्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहाराणि' ।—का १३६
'चतुरचित्रकरचक्रवालविलिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम् ॥—ह १४२
'चित्रावशेषाकृतौ काव्यशोषनाम्नि नरनाथे । —ह १७५
प्रविशन्नेव—चित्रवति पट—कथयन्त यमपट्टिक ददश'—ह १५३

पट-चित्र —
'वासभवने मे शिरोभागनिहित कामदेवपट पाटनीय ।'—का ५३६

पट्ट-चित्र —
'यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिख न्त्युद्गीतका ।'—ह १३८

शिला-चित्र —
'यत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि त्र्यम्बकप्रतिबिम्बकानि
वन्दमाना ।'—का २६२

चित्र-द्रव्य-वर्ण-कूर्चक

वर्तिका—कालाञ्जन-वर्तिका —

'कपोलेलयो मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का ४५५

वर्णसुधाकूर्चकैरिव करधवलितदशाशामुखे चन्द्रमसि ।'—का ५२७

कूर्चक — 'इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम् ।'—का २४६

वर्ण-शुद्ध-कूर्चक —'वही' ।

तूलिका —'अवलम्बमानतूलिकालाबुकाश्च..."—ह २१०

वर्ण पात्र (वर्ण-करण्डक) —'अलाबु' ।

चित्र-प्रक्रिया-आधार—भूमि-बन्धन

कुड्य-भूमि-बन्धन —

'उत्थापिताभिनवभित्तिपात्यमानबहलवालुकाकण्ठकालेपाकुलाले-
पकलोकम् ।'—ह १

'उत्कूर्चकैश्च सुधाकर्परस्कन्धैरधिरोहिणीसमारूढैर्धवलीक्रियमाणप्रासा
प्रतोलीप्राकाराशिखरम् ।'—

चित्र-फलक-बन्धन —

'आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्'—का १७२

प्रमाण एवं अण्डक-वर्तन —

'वत्सस्य यौवनारम्भसूत्रपातेरखा ।'—का ४६६

छाया-कान्ति—चित्रोन्मीलन

'कपालस्यो मीलनकालाञ्जनवर्तिका । —का ४५५

'प्रातश्च तदुन्मीलित चित्रमिव च आपीडशरीरमवलोक्य ।' —का ५४८

पत्र लेखनादि —

'उभयतश्च—पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठितम् ।'—१४३

'बहुविधवर्णकादिग्धागुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि च—समन्तात्सामन्तसीमन्तिन
भिर्व्याप्तम्–ह १४

चित्र-वर्ण विन्यास-बाहुल्य

मूल वर्ण—शुद्ध-वर्ण —

शुभ्र-वर्ण —'दूरिवालसैवावदातदेह'

'हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्स्ना'
'हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते'
'अभिनवमितसिन्दुवारकुसुमपाण्डरै'
'कर्णिकारगौरेण बौधकञ्चुकच्छन्नवपुषा'
'बकुलसुरभिनि श्वसितया चम्पकावदातया'
'दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव'
'पीयूषफेनपटलपाण्डरेण'
'क्षीरफेनपटलपाण्डरम'
विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डर रज समालम

रक्त-वर्ण —

'तस्य चाधरदीधतयो विकसितबन्धूकवनराजय'
कुङ्कुमपिञ्जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य
'कुसुम्भरागपाटल पुलकबन्धचित्रम
'रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरधातकीस्तबके
'लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि'
'माञ्जिष्ठरागलोहिते किरणजाले'
'बालातपपिञ्जरा इव रजय'
'पारावतपादपाटलराग'

हरित-वर्ण –

'शुकहरितं कदलीवनं'
मरकतहरितानां कदलीवनानाम्'
'तरुणतरतमालश्यामले'

धूरा (gray) वर्ण —

'कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा—धूमपटलेनेव'
'रासभरोमधूसरासु'
'वनदेवताप्रासादाना तरूणां—तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु'
'कपोतकण्ठकर्बुरे—तिमिरे'
'पारावतोदरधूसरे रजसि'

भूरा (brown) वर्ण —

'गोरोचनाकपिलद्युति'

'हरितालकपिलपक्ववेणुविटपरचितवृतिभि ।'

'सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमेदुरे'

'धूसरीचक्रु श्मेलकक्चकपिला पांसुवष्टय'

'गोधूमधामाभि स्थलीपृष्ठैरधिष्ठिता'

श्याम वर्ण —

'अरमहिषमषीमलीमसि तमसि'

'गोलाङ्गूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिन्धुवारवर्णे वाजिनि'

'चाषपक्षत्विषि तमस्युदिते'

शबल-वर्ण —

'आचममनशुचिशची तिमुच्यमानार्चनकुसुमनिकरशारम्'

'आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनु सहस्राणि ।'

'पाकविशराऽरुराजमाषविकरकिर्मीरितैश्च'

'शबलशार्दूलचर्मपटपीडितेन'

'तिर्यङ् नीलधवलांशुकशाराम् ।'

मिश्र-वर्ण—अन्तरित वर्ण —

स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णातिपीतेनान्त-निपतता धमपटलेनेव परीतमूर्ति'

'सरस्वत्यपि शप्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारा दृष्टिमुरसि पातयन्ती'

'आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तरगतशुकप्रभाश्यामा-यमान मरकतमयमिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम्'

आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटल कषायमधुर प्रकाममापीतो जम्बू-फलरस'

शरीरामय—चित्रवर्ण (anatomical delineation) —

चमू कुरङ्गकैर्घोणायां वराहै स्कन्धपीठ महिषै प्रकोष्ठबन्धे व्याघ्रै पराक्रमे केसरिभिनमत-माधवगुप्तम्

'सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी केयूरी मेखली मुद्गरी खगी च बू वावाप विद्याधरत्वम'

देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकर'

'भङ्गभङ्गबलना यो यघटितोत्तानकरवेणिकाभि'

दण्डिन

दशकुमार-चरित्र का निम्न वाक्य पढिए जिस में भूमि बन्धन और वर्ण-विन्यास का प्रतिविम्बन प्रत्यक्ष है —

मणिसमुदगात वर्णविर्तिका मुद्धत्य

—दश० च० उ० २

भवभूति

भवभूति के उत्तर-राम-चरित मे प्राकतिक चित्रों की भरमार है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि Landscape Artist के लिए जो Principles of Perspective विशेष महत्व रखते हैं उनके पूर्ण प्रतिविम्ब यहा पर दिखाई पडते हैं। उदाहरण के लिए श्र गवर पुर के निकट इङ्गुदी—पादप का वर्णन, भागीरथी गगा का वर्णन, चित्रकूट के मार्ग पर स्थित श्याम वट-वृक्ष का वर्णन, प्रस्रवण-पर्वत का भव्य वर्णन पञ्चवटी की पृष्ठ-भूमि पर शूर्पणखा के चित्र का विलास-वर्णन, पम्पा-सरोवर के वर्णन—ये सब वर्णन एक-मात्र काव्य-मय नही हैं, ये पूरे के पूरे चित्र-मय हैं।

माघ

माघ को तो कालिदास और भवभूति से भी बढकर पण्डित-मण्डली ने जो निम्न युक्ति से परिकल्पित किया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम।
दण्डिन पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा ॥

यह ठीक है या नही ? परन्तु इन के विरचित शिशुपाल वध के ततीय सर्ग के ३६वें श्लोक को पढिए जिस मे भूमिबन्धन के लिए कितना सुन्दर मार्मिक विधान है। अतिश्लक्ष्णता अर्थात् बहुत चमकता चिकना एव आलस्य कम के लिए भूमि-बन्धन समीचीन नही—

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः ॥

हर्षदेव—हर्षवर्धन

इन के तीनों नाटक-नाटिकाओं—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका से सभी परिचित ही हैं। बाण के 'अलाबु' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हम उल्लेख कर ही चुके है। हर्षदेव की रत्नावली को पढ़िए —

"गृहीतसमुद्गकचित्रफलकवर्तिका"

इस मे षड्-चित्राङ्गो मे वर्ण-पात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन तीनो पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमासा मे विवप कर उसके बाल-भारत में निषद्धासर इस सन्दर्भ म चित्र-वर्ण-रसायन पर बड़ा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

श्रीहर्ष का समय ११वी तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर - मध्यकालीन - चित्रकला का साहित्यिक - निबन्धन इतिहास उद्दाम तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता है। चित्र-कला मे वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास मे जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, वह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित सदर्भों म प्राप्त होता है। यहा पर 'ॐ' इस शब्द के दोनो दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र—चारो के साथ दमयन्ती के दोनो भौहो (दोनो दल) तिलक (बिन्दु), अर्द्ध-चन्द्र वीणाकोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धत श्लोक मे विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एव तुलना है —

शृङ्गारद्वालवरसस्य बालिकाकुचयुग्मवत्
नेत्रवत्तृष्णसपस्य स विसर्ग इति स्मृत ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तो तथा चित्र प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि में नैषध के नाना उद्धरणो को पेश करते हैं, जिनमे चित्र प्रकार चित्र-प्रक्रिया, विशेष कर मान—प्रमाण, अण्डक-कम, चित्र वर्ण, वर्ण-विन्यास एव शरीरावयव—मुख, नासा, चिबुक वर्ण ग्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ, एड़ी तथा अगुलियां—

सभी पर बडे ही प्रौढ वर्णन प्राप्त होते हैं। श्री हर्ष के इन निदर्शनों में सबसे बड़ी विशेषता वज्र-चित्रकारी, मुद्रा-भंगिमा विशेष सूक्ष्म हैं।

चित्र प्रकार

कुड्य-चित्र—'ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौर पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्य निर्युदिवस निशा च तत्स्वप्नसभोगकलाविलासं॥१० ३५॥

द्वार चित्र—पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृता युत्सववान्ध्वयव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषा महीभुजामाभरणप्रभाभि॥१० ३१॥

प्रेमी-प्रेमिका-चित्र—प्रिय प्रिया च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीला गृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥१ ३८॥

चित्रमे योज्यायोज्य

'भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससकथा।
पदमनन्दसुनारिरमुताम दशाहमहस मनोभुव'॥१८ २०॥

वर्तना

सूत्रपात लेखा—गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्तेयमप्यर्धनूसमस्याम।
इतीव मध्ये विदध विधाता रोमावलीमचकसूत्रमस्या॥७ ८३॥

अपागमालिख्य तदीयमुच्चकै रनीपि रेखाजनिताञ्जनेन या।
चापाति सूत्र तदिव द्वितीयया वय श्रिया वर्धयितु विलोचने॥१५ ३४॥

हस्त-लेखा—पुराकृनि स्त्रैणमिमा विधातुमभूद्विधातु खलु हस्तलेख।
येयमवद्भावि पुरी ध्रमष्टि सास्यै यशस्तज्जयज प्रदातुम्'॥७ १५॥

अस्यैव सगम्य भवरकरस्य सरोजसृष्टिमम हस्तलेख।
इत्याह धाता हरिणेक्षणाया कि हस्तलेखीकतया तयास्याम्॥७ ७२॥

हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदथम्।
राम रामधरीकततत्तल्लेखक प्रथममेव विधाता॥२१ ६६॥

वर्ण-विन्यास

चार मूल रग— विरहपाण्डिम राग तमोमषीशितम तन्निजपीतिम वर्णकै
दश दिश खलु तद्दृगकल्पयन्लिपिकरो नलरूपकचित्रिता॥४ १५॥

'पीतावदातारूणनीलभासा देहोपदेहात्किरणमणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैणनाभीविलेपाद्युतरूक्तयन्तीम् ॥१० ९७॥
विभिन्न मिश्र वर्ण—'यस्य मन्दिरे स राज्यमाद गादारराध मदन प्रियाकम।
बेक्वर्णमणिकाटिकुट्टिम हमभूमिमति सौधभूधरे ॥८ ३॥
वर्ण वि यास—'स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथं चित्रमयी विभर्तु मा।
स्वरभदमुपेतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥२ ६८॥

शरीरावयवज्ञान

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्री ।
भूयोगुणाय सकला बलाद्यत्ताभ्योऽन्याऽलभत विभ्यतीभ्य ॥
नासीदमीया तिलपुष्पतूण जगत्रयव्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेया दधद्विबाणी कुसुमायुधस्य ॥
बन्धकबन्धभवदेतदस्य मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना ।
रागश्रिया शैशवयौवनीया स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥
विलोक्तितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेय सुषमासमाप्तौ ।
धत्युदभवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागुलियन्त्रयव ॥
न्हाविरायन पथातिवक्र शास्त्रौघनिष्य दमुधाप्रवाह ।
सोऽस्या श्रव पत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यभिकर्णकूपम ॥
ग्रीवावभुतवावटुशामिशापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
माणिक्यतामप्यवलम्बमाना सुरूपताभागाखिलाध्वकाया ॥
कविलगानाप्रियवादसत्यायस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम् ।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषा वासाय सोऽयं विबभाज सीमा ।
रज्यन्नखस्यागुलिपञ्चकस्य मिषादमी हैठलपद्मतूण ॥
हैमैकपुरूयास्ति विशुद्धपदव प्रियाकर पञ्चशरी स्मरस्य ।
चक्रण विश्वे युधि मत्स्यकेतु पितुर्जित वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
बगज्जिगीषत्यमुना नितम्बमयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥
पूरिचिनलेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यद्दसृष्टि' ।
दृष्टा तत प्रत्यतीयमेकानेनकाप्सर प्रेक्षणकौतुकानि ॥
यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पादानराजौ परगुद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुश्रूषयितु स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज ॥

एष्यन्ति यावद्गणनाहिताना स्मरार्ता गरण प्रवेष्टम ।
इमे पदार्तले विधिनापि सष्टास्तावत्य एव गुल । न लखा ॥
प्रियानखीभूतवतो मुदैव व्यधाद्विधि सावुदात्वमिन्दो ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्य कथम यया स्यात ॥

तल-चित्र (Mosaic Floor-painting)

कुत्रचित कनकनिर्मिताखिल क्वापि यो विमलरत्नज किल ।
कुत्रचिद्रचितचित्रशालिक क्वापि चारिस्थरविधं व्रजालिक ॥'—१८ ११

पत्र-भग चित्रण

स्तनद्वये तन्वि पर तथैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवग्ध्यविवर्धिनीना वलना समाप्तिम् ॥'—३ ११८

हस्त-लेख

दलोदरे काञ्चनकेनक्रस्य क्षणामसीभावुकवर्णलेखम ।
तस्यपैव यन स्वमनङ्गलेख लिलेख भैमीनखलेखिनीभि ॥३ ६३

चित्र-मुद्रा

क्रमोद्गता पीवरताधिजघ वक्षाधिरूढ विदुषी किमस्या ।
अपि भ्रमीमगिभिरावनाग वासा लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥—७ ६७

चित्रकार

'चित्रतत्तदनुकायविभ्रक्षाध्याम्यननेकविधरूपरूपकम ।
वीक्ष्य य बहु धुन्वन्शिरो जरावातकी विधिरकल्पि शिल्पिराट ॥—१८ १२

सोमेश्वर-सूरि—इन के यशस्तिलक-चम्पू मे न केवल चित्र शास्त्रीय सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओ का ही पूर्ण प्रोल्लास प्राप्त होता है वरन जिस प्रकार बाण की रचनाओ से तत्कालीन चित्र कला-सवन एक प्रकार से दैनिक चर्या थी उसी प्रकार यशस्तिलक के पन्नो में तत्कालीन चित्र-कला के सामाजिक, वैयक्तिक एव गार्हस्थ्य सेवन पर भी पूरा प्रकाश प्राप्त होता है । इस ग्रथ में चित्र-कला का एक नया विकास प्रारम्भ पाया जाता है, जिसको हम पत्रलेखन की सज्ञा से पुकार सकते हैं । पत्रावगत म तात्पर्य लता विच्छित्ति चित्रण हैं जो नग्न नारियों पशुओ एव पक्षियो के अगो पर चित्रणीय हैं । कालिदास ने ही सबसे पहले इस

परम्परा का अपने मेघदूत में श्रीगणेश किया था, 'रेवा द्रक्ष्यसि आदि'।

परन्तु पुनः इन का पुनरुत्थान 'यशस्तिलक' के सन्दर्भों से प्राप्त होता है। वहां पर वे कालिदास से भी आगे बढ़ गए हैं। उत्तान शंख, स्वस्तिक ध्वजा, न द्यावत आदि लाञ्छनों से गज की भूमि को विकसित किया है यह पत्रालेखन एक प्रकार से बड़ा ही विरला है। आगे चल कर नायिकाओं के अंग-प्रसाधन में शृंगार में अंगों की भूति-प्रदर्शनार्थ नाना अंगोपांग, अंतराग प्रसाध्य हैं। निम्न लिखित उद्धरण पढ़िए

'उच्चनखरेखालिखितनिखिलदेहप्रसादम्'

अस्तु, इस थोड़े से साहित्य-निबन्धनीय एवं ऐतिहासिक सिंहावलोकन के उपरान्त अब हम चित्रकला के अन्तिम स्तम्भ पर आते हैं।

ग्रन्थ चित्रण—चित्रकला को हम तीन धाराओं में बहती हुई पाते हैं। पहली हुई पुरातत्वीय, दूसरी हुई साहित्यिक। अब इस तीसरी धारा का हम ग्रन्थ-चित्रण के रूप में विभाजित कर सकते हैं। समरांगण-सूत्रधार का यह निम्न-प्रवचन इस तीसरी धारा की ओर भी संकेत करता है।

"चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्"

यह धारा विशेषकर गुजरात में पनपी और इसके निदर्शन हस्त-लिखित जैन-ग्रन्थ ही मुख्य उदाहरण हैं। जैन-चित्र-कल्पद्रुम से ही नहीं, वरन अन्य अनेक जैन हस्त-लिखित-चित्रित-ग्रन्थों से भी यही प्रमाण प्रस्तुत होता है। हीरानन्द शास्त्री ने अपने Monograph (Indian Pictorial Art as developed in Book Illustrutions) में भी यही प्रमाण पूर्ण रूप से परिपुष्ट किया है।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एव राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

य त्र घटना

पचम पटल

चित्र-लक्षण

पष्ठ पटल

चित्र एव प्रतिमा—दोनो के सामा य अङ्ग

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

विषयानुक्रमणी—शेषांश

वेदी-लक्षण

वेदिया चार है जो पुरा ब्रह्मा के द्वारा कही गयी है उन्ही को अब हम नाम सस्थान और मान से वणन करत है ।।१।।

पहली चतुरश्रा दूसरी सवभद्रा तीसरी श्रीधरी और चौथी पद्मिनी नाम से स्मृत की गइ है ।।२।।

यज्ञ के अवसर पर विवाह म और दवताओ की स्थापनाओ मब नीराजना म तथा नित्य वन्हि होम म राजा के अभिषेक म और नक्रध्वज के निवेशन म राजा के योग्य य बतायी गयी ह और वर्णों के लिय भी यथाक्रम समभनी चाहिय ।। ४।।

चतुरश्रा वदी चारो तरफ से नौ हाथ होती है । आठ हस्त के प्रमाण स सवभद्रा बनायी गई है । श्रीधरी वदी का मान सात हाथ समभना चाहिए और शास्त्रज्ञो ने नलिनी नाम की वेदी का छह हाथ का विधान किया है ।।५ ।।

चतुरश्रा वदी को चारो ओर चौकोर बनाना चाहिए और सवभद्रा को चारो दिशाओ मे भद्रो से सुशोभित करना चाहिए श्रीधरी को वाम कोनो म युक्त समभना चाहिये और नलिनी यथानाम पद्म के सस्थान को धारण करन वाली समभना चाहिय । अपन अपने विस्तार के तीन भागो म उन सब की ऊचाई करनी चाहिय तथा मन्त्र पुरस्सर इष्टकाओ के द्वारा उन का चयन करना चाहिए ।।७-९ ।।

यज्ञ के अवसर पर चतुरश्रा विवाह म श्रीधरी दवता के स्थापन म सवभद्रा वेदी का निवश करना चाहिए । अग्नि काय-सहित नीराजन म तथा राज्याभिषक म पद्मावती वेदी कही गई है और शक्रध्वज-उत्थान म भी इसी का विधान है ।।११।।

चतुमु खी वेदी का विशेष यह है कि चारो दिशाओ म सोपानो स चतुमु खी बनाना चाहिए । उन प्रतीहारो म युग्म और अधचन्द्रो म उपशोभित चार खम्भो मे युक्त चार घडो से शोभित तथा सुवण, रजत ताम्र अथवा मृत्तिका स बने हुए कलशो से सुशोभित करना चाहिए । और वे घडे प्रत्येक कोन

पर सुदर वारगा के चित्रा से भूषित वियस्त करना चाहिए। वदियो के स्तम्भा का प्रमाण छाद्य (छप्पर) के अनुकूल करना चाहिए ॥१२ १४॥

एवं, दो अथवा तीन आमलसारक छाद्य के द्वारा स्तम्भ के मूल भागो को गुड, शहद अथवा घत स चिकना कर अथवा श्रेष्ठ अन्न से चिकना कर उनका यथास्थान विन्यास कर। पुन देवताओ की पूजा कर के ब्राह्मणो स स्वस्ति वाचन करवाना चाहिये ॥१५-१६॥

वदिका का लक्षण जो चार प्रकार का यहा बताया गया है वह सारा का सारा जिस स्थपति के मन मे वतमान होता है, वह ससार मे पूजित होता है और राजा की सभा म स्थपति शोभा को प्राप्त करता है और उसका शुभ्र यश फैलता है ॥१७॥

पीठ-मान

अब देवो के और मनुष्यो के पीठ का प्रमाण कहा जाता है । एक भाग की ऊचाई वाला पीठ कनिष्ठ (छोटा) पीठ डढ भाग वाला मध्यम और दो भाग की ऊचाई वाला उत्तम—इस प्रकार पीठ की ऊचाई कही गई है ॥१-२½॥

महेश्वर, विष्णु और ब्रह्मा का पीठ उत्तम होना चाहिए और अन्य दवो का पीठ बुद्धिमान के द्वारा वैसा नही करना चाहिए और ईश्वर का (राजा का) पीठ इच्छानुसार विलक्षण स्थपतियो के द्वारा बनाना चाहिये ॥२½-३॥

जिस पीठ पर ब्रह्मा और विष्ण का निवेश करना चाहिए वहा सब जगह ईश्वर का निवेश किया जा सकता है । ऐसा करन पर दोष नही और दवो की पीठ की ऊचाई एक भाग मे प्रकल्पित है । जिस का जिस विभाग से वास्तु मान विहित है उसका उसी भाग से पीठ की ऊचाई भी करनी चाहिए । मनुष्यो के घरो के पीठ दव पीठो के तुल्य बराबर) करने चाहिए अथवा दवो के पीठ अधिक करन पर दवता लोग वृद्धि करते है ॥ ७½॥

पुर के मध्य भाग म ब्रह्मा जी का उत्तम मदिर निर्माण करना चाहिए उसको चतुर्मुख बनाना चाहिए, जिस म वह सब पुर को दख सके । सब वेश्मो से तथा राज प्रासाद से भी उस बड़ा बनाना चाहिए ॥७½ =॥

और देव-मन्दिरो स राज प्रासाद अधिक भी प्रशस्त कहा गया है क्योकि लोकपालो म श्रेष्ठतम पाचवा लोकपाल राजा कहा गया है ॥६॥

इस प्रकार से देवो के इन सपूर्ण पीठो का वणन किया गया । अब ब्राह्मणादि के क्रम से चारो वर्णो के पीठो का वणन करता हू ॥१०॥

३६ अगुल की ऊचाई का पीठ ब्राह्मण के लिये प्रशस्त कहा गया है और अन्य वर्णो के पीठ चार चार अगुल स छोट हो ॥११।

चारो वर्णो के पीठो और गहो का विप्र भाग करता है और तीन वर्णो का क्षत्रिय दो का वैश्य और शूद्र केवल अपन पीठ का भाग करता है ॥१२॥

इस प्रकार पीठो का विभाग गह-स्वामी का कल्याण चाहता हुआ और राजा की समृद्धि के लिए स्थपति परिकल्पित करें ॥१३॥

प्रमाण के अनुसार स्थापित किये गये देव पूजा के योग्य होते हैं ॥१३½॥

ब्रह्मा विष्णु शंकर तथा अन्य देवों के पीठों का जो नियत प्रमाण कहा गया है वह सब वर्णित किया गया। तदनन्तर विप्र आदि वर्णों का भी पीठ-प्रमाण बताया गया। इस लिए कल्याण चाहने वाले स्थपतियों के द्वारा उस सम्पूर्ण पीठ-मान की योजना करनी चाहिए ॥१४॥

द्वितीय पटल

१ राज-निवेश

२ राज-भवन

राज-निवेश

चौसठ पद पर प्रतिष्ठित पुर निवेश यथाविधान यथाङ्गापाङ्ग का विधान करने पर अर्थात यहा पर परिखाओ प्राकारो गोपुरो अट्टालका के निर्माण करन पर गलियो का विभाग तथा चारो ओर चबूतरो का विभाग कर लन पर और क्रमश अन्दर और बाहर बताए हुए देवताओ की स्थापना करन पर पूव दिशा म जन बहुल प्रदश म अथवा पूव म आग के दरवाजे के उन्नत प्रदेश पर यश श्री विजय वाले मत्र पद-अधिष्ठित यथा-वणक्रमायात समान चारो कोने वाले शुभ पुर क मध्य भाग स ऊपर दिशा म स्थित राजा के महल का बनाना चाहिय ॥१-४।

दुर्गों म राज महल ऊपर दिशाओ म भी अथवा जहा उचित भू-प्रदश प्राप्त हो वहा निविष्ट किया जा सकता है और वहा पर विवस्वत भूधर अथवा अयमा क किसी अन्यतम निर्दिष्ट पद निवश विहित माना गया है ॥५॥

दो सौ तैतालीस नापो स युक्त पद म ज्यष्ठ प्रासाद कहा गया है और मध्यम प्रासाद एक सौ बासठ और अन्तिम एक सो आठ का होता है ॥६॥

ज्यष्ठ पुर म ज्यष्ठ राज-निवश का विधान है मध्यम म मध्यम और छोट मे छोटा है ॥७॥

यह राज माग पर आश्रित होता है और इस क वास्तु द्वार का मुख पूव की ओर होता है। चारो ओर प्राकारो एव परिखाओ स रक्षित सुन्दर कान्ति वाले अट्टभ्रमा नियूहो अर्थात भवन विच्छित्तियो एव सुदृट अट्टालको स युक्त इक्यासी पदो से विभक्त नप मन्दिर का निर्माण करना चाहिए। इसी युक्ति स अन्य दिशाओ म आश्रित पदो पर निर्माण करना चाहिय इसका गोपुर-द्वार भल्लाट-पद वर्ती इष्ट माना गया है ॥८-१०।

उस पुर के द्वार के विस्तार की ऊचाई के समान कल्याणकारी महद्द्र-द्वार महीधर शेष नाग पर निवेश्य कहा गया है। ववस्वत म पुष्पदन्त अयमा म गहक्षत और दूसरे प्रदक्षिण पदो म अपरतः इसी प्रकार म अन्य दूसरा अपनी अपनी दिशाओ मे द्वारो का निर्माण करना चाहिए। सब आभिमुख्य होन पर य सब गोपुर-द्वार प्रशस्त कहे गये है ॥११-१३॥

ेन नगर द्वा । स बीस नग। तो र न्दर गगाव, जय त ग्रार मुख्य क पदा पर पक्ष द्वा । म निमाण करना ाहिए । ग्रा न उमी प्रकार स विरा म प्रदशिण भ्रमो का निमाण क ना चाहिए ।।१ –१।।

देवताग्रा के पद समूहा ग पुर के समान वास्तु पद न विभक्त होन पर मत पद प राजा के निवास के लिए पूव-मुख प्रमुख पथ्वी—जय प्रासाद का यथावत निवश करना चाहिए ।।१५ १६।।

श्रावश्य सवतोभद्र ग्रथवा भुवनवाण इनम से जिस किसी का राजा चाह उस शुभ–लक्षण राज-प्रासाद का निर्माण कराव ।।१७।।

ग्रब ग्राइय नाना विध राज-प्रासाद निवशो का सविस्तर वणन किया जाता है । शालायें एव कम-चारियो क ग्रपन ग्रपन पथक पथक् निवशा के साथ राज गह निवश्य होता है । प्राची दिशा म ग्रादित्य भगवान सय्य के पद से मश्रित राज गह होता है । सय म धमाधिकरण व्यवहार निरीक्षण का यास विहित है ग्रौर मग मे कोष्ठागार ग्रौर ग्रम्बर मे मग एव पक्षियो का निवास बताया गया है ।।१८–१९ ।।

ग्रग्नि की दिशा म प्रारम्भ कर वाय की दिशा की ग्रार रसाई पूषा म सभाजनाश्रय तथा भोजन-स्थान का निवेश बताया गया है ।।२०।।

सावित्र्य म वाद्यशाला ग्रौर सविता म वदि गणा का निवास बताया गया है । वितथ म चर्मो का एव उसके योग्य ग्रस्त्रा का विधान विहित है । सोना चादी क कामो का गहक्षत म निवेश करना चाहिए । दक्षिण दिशा म गुप्ति काष्ठागार बनाना चाहिये ।।२१–२२।।

प्रेक्षा सगीत ग्रौर वास-वस्त्र ग धव म स्थापित करने च हिए । रथ शाला ग्रौर हस्ति-शाला का निर्माण ववस्वत्तुम करना चाहिए ।।२३।।

पश्चिमोत्तर भाग म वापी का निर्माण करना चाहिए ।।२४१।।

ग धव क बाहर वायु ग्रौर सुग्रीव के पदो म प्राकार क वलय से ग्रावृत ग्रत पुर का स्थान बनाना चाहिए । ग्रथच ग्रत पुर के गोपुर द्वार का निवेश जय पर तथा उसका मुख उत्तराभिमुखीन बनाना चाहिए । भङ्ग में कुमारी-भवन तथा क्रीडा एव दोला गहो का भी निवेश करना चाहिये । स्थपति के द्वारा ग्रपराङमुख वाले ऐसे प्रासाद का भी निर्माण करना चाहिए । मग मे नप का ग्र त पुर ग्रौर पित्र्य मे ग्रवस्कर ग्रथच यथास्थान राजाग्रो की स्त्रियो का उपस्थान भी इ द्र-पद मे कहा गया है ।।२४१ २७ ।।

सुग्रीव पद मे ग्राश्रित ग्ररिष्टागार कल्याणकारी होता है एव उसका

निवेश जयन्त तथा सुग्रीव पदा म विशेष विहित है ॥ ८८ ॥

मनोहर अशोक-वन के स्थान के लिए एवं धारा गह एव लता मण्डपो से युक्त लता गह भी यही पर होन चाहिए। सुन्दर लकडी के पवत वापिया पुष्प वीथिया भी होनी चाहिए। पष्पादन्त मे पुष्प-वेश्म तथा अन्तपुर के क्रमादिक निवेश करने चाहिए ॥२९—३०॥

वरुण के पद मे वापी और पान गृह बनाने चाहिए। असुर म काष्ठागार शाप मे आयुध गह विहित बताय गय है। ॥३१॥

रौद्र नामक सुन्दर पद मे भाण्डागार का निमाण करना चाहिए और पाप यक्ष्मा के पद पर उलूखल शिलायन्त्र-भवन अर्थात ओखली और चक्की के स्थान बनाने चाहिए ॥३२॥

राजयक्ष्मा मे लकडी के काम वाला घर कल्याणकारी होता है। वायु दिशा मे रोग पद पर औषधियो का स्थान होना चाहिए। विद्वानो के द्वारा नागा का स्थान नाग के पद पर नाम कहा गया है और मुख्य म व्यायाम नाटय और चित्रा की शालाओ का विधान बताया गया है ॥३३-३४॥

भल्लाट-नामक पद मे गौवा का स्थान तथा भोग गह होने चाहिए। सौम्य के उत्तर-प्रदेश म पुरोहित का स्थान कहा गया है। और च यहीं पर राजा का अभिषेचन-स्थान तथा दान अध्ययन और शान्ति के स्थान भी विहित बताये गये है। अदिति अर्थात नृप नाग के पद पर चामर तथा छत्र के घर एव मन्त्र वेश्म भी प्रतिष्ठाप्य है और यहीं पर बैठ कर राजा को अपने अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए। ३५- ३७॥

उत्तर भाग म अश्विनी घोडो की वाजिशाला होती है और वह महीश्वर के पद पर ही दक्षिणाभिमुखी यथोचित रूप म राज-प्रासाद के अनुरूप भवन वाजिशाला बनानी चाहिए। राजा अपने प्रासाद म जब प्रवेश करता है तो दक्षिण म वाजिशाला पडनी चाहिए और वाम भाग म गजशाला पडनी चाहिए। चरक नामक पद म राज पुत्रा के घरो का निमाण करने चाहिए और यहा पर इन लागो की पाठशालाओ का निवेशन भी करना चाहिए। और च नप की माता का निवशन अदिति के स्थान म करना चाहिए। यहीं पर पवन स्थान पर पालकी और शय्या के घर अलग अलग कहे हैं ॥ ३८—४१॥

राजाओ के हाथियो की शालाओ का निमाण भी पवन पर उचित कहा गया है। यहीं पर गजो के अभिषेचनक स्थान विहित है ॥४१३—४२॥

आपवत्स के पद पर हस क्रौञ्च, गा स पक्षियो म चित आर जहा पर

कमल बन खिले हुए है, एसे स्वच्छ सलिल वाले तालाबो का निर्माण करना चाहिए ॥४२½–४३½॥

चाचा, मामा आदि के घर दितिपद मे होना चाहिए ।

राजा के अन्य सामन्त आदि ऊचे अधिकारियो के भी घर यही पर विहित हैं ॥४३½–४४½॥

ऐशानी दिशा मे अनल स्थान पर ऊचे ऊचे खम्भो एव उत्तुङ्ग वेदिकाओ से युक्त अच्छी अच्छी मणियो से बने हुए सुन्दर देव कुल का निर्माण करना चाहिये ॥४४½–४५½॥

पजन्य के पद पर ज्योतिषी का घर कहा गया है ॥४५॥

सेनापति को विजय देने वाले घर का निर्माण जयाभिध पद पर करना चाहिए तथा इस भवन को अयमा के पद मे प्राकार-समाश्रित द्वार प्रशस्त कहा गया है। और यही पर पूर्वदक्षिणाभिमुखीन शास्त्र कर्मान्त शास्त्र-भवन भी उचित है ॥४६–४७½॥

राज-प्रासाद-निवेश में इन्द्र-ध्वज-युत ब्रह्मा का स्थान किसी भी निवेश्य के लिये वर्जित बताया गया है। इसी स्थान पर केवल अशुभ वेश्मो का विधान है और यही पर असुखावह गवाक्ष एव स्तम्भा-शोभिनी शालाओ का भी विधान विहित है ॥४७½–४८॥

राज प्रासाद की रक्षा के लिये यथादिक प्रभवा सभा का निवेश बताया गया है। साथ ही साथ राज प्रासादो के सम्मुख गजशालायें अनिवार्य है अथवा पृष्ठ भाग में भी विहित है ॥४९–५०½॥

इस प्रकार के शास्त्रानुकूल विधान के अनुसार देव प्रसाद तुल्य राज भवन का जो राजा अनुष्ठान करता है वह सप्तद्वीप सप्तसागर-परीता मही का प्रशासन करता है तथा अपने पराक्रम से सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है ॥५१॥

राज-गृह

१०८ कर अर्थात हस्त वाला ज्येष्ठ ९० हस्त वाला मध्यम ७० हस्त वाला निकृष्ट राज-वेश्म बताया गया है अत महान विभूति एव सम्पदा को चाहने वाला इससे हीन मान मे राज-वेश्म का निर्माण न करावे ॥१-२½॥

क्षेत्र के चौकोर बना लेने पर, दश भागो मे विभाजित कर आदि कोण म आश्रित दीवाल आध भाग स कही गयी है ॥२½-३½॥

चार खम्भा स युक्त मध्य मे चार भाग वाले अलिन्द का निर्माण करे और बाहर का अलिन्द बारह खम्भा से आवत निर्माण करे । तदनन्तर बीस श्रेष्ठ खभा से युक्त दूसरा अलिन्द होता है और तीसरा भी २८ खभा वाला होता है और ३६ खभो से चौथा अलिन्द विहित है । इस प्रकार से पृथ्वी-जय नामक राज वेश्म मे १०० खभे विद्वानो के द्वारा बताये गये हैं ॥ ३--५॥

इस के चार दरवाजे होते हैं जो कि पञ्चगवाक्ष द्वार विहित है । उसके चारो निगम (निकास) प्रत्येक दिशा में होते हैं वे सब बराबर होते है । और इसी प्रकार से चारो दिशाओ म भद्राओ का निवेशन विहित है ॥ ६-७॥

बीच की दीवाल के आध म तीनो भद्रो म दीवाल होती है प्रत्येक भद्र म २८ २८ खम्भ कहे गये है ॥८॥

मुख भद्र वेदिकाओ और मत्तवारणो से युक्त कहा गया है । क्षत्र भाग का उदय आदि भूमि के फलक तक कहा गया है ॥९॥

आदि भूमि की ऊचाई के आधे से इस का पीठ कल्पित होना चाहिए । नव भागो से ऊचाई करके एक भाग स कुम्भिका बनानी चाहिए ॥१०॥

चारो भागो मे आठ अश स युक्त स्तम्भ निर्माण करना चाहिए पाद युक्त एक भाग से उत्कालक बनाना चाहिए ॥११॥

पाद-रहित भाग से हीर ग्रहण करना चाहिए । खम्भ स युक्त सपाद एक भाग का पट्ट निर्मेय है । पट्ट के आध मे जयन्तिका का निर्माण करना अभिप्रेत है । अन्य भूमियो पर यही क्रम है परन्तु निर्मित भाग की ऊचाई म ग्र श उग

दिया जाता है अर्थात तलभूमि में ऊपर की भूमियों का ह्रास आवश्यक है। पञ्च भाग का प्रमाण वाला नवा तल सच्छाद्य होता ह। वदिका का नीचे का छाद्य साढे तीन भा ा ना प्रमाण वाला और वह कण्ठ से युक्त बनाना चाहिए जिससे वेदिका ढक जाए अ र च उस का कण्ठ बीच में ड भाग से बनाना चाहिए ॥१२–१५॥

वदिका का विस्तार अधसप्तम भागो से करना चाहिए और वेदिका के ऊपर घण्टा साढे चौदह भाग से पाद सहित दो भागो से कण्ठ, पाच से पट्ट चार से दूसरा और फिर तीन से तीसरा शोभा के अनुसार इच्छानुसार वेश्म-शीष देना चाहिए। छत्र-भाग के बराबर शूलिका का कलश बनाना चाहिए ॥१६–१८॥

भूमि की ऊचाई के आधे स अ तरावकाश में तल होना चाहिए और उसका सुशोभित पीठ जैसा अच्छा लग वैसा बनाना चाहिए। इसकी खुर-वरण्डिका ढाई भाग से जघा चार भाग मे उसके बाद छाद्य प्रवृत्त करे ॥१६–२०॥

एक पाद कम दो भागो मे छाद्य पिण्ड बताया गया है और इसके ऊपर हस नाम का निगम चार हाथ वाला बनाया गया ह ॥२१॥

उसके बाद दूसरा छाद्य एक पाद कम एक भाग से प्रासाद की जघा चार भागो से प्रकल्पित करे ॥२२॥

चौथी भूमिका क सिर पर फिर मुण्डा का निवेश करे और शेष भूमिकाए क्षण क्षण प्रवेश से बनानी चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित क्रम से घण्टा सहित और कलशो स युक्त वदिका होनी चाहिए और रेखाओ की शुद्धि से सब मुण्ड ठीक तरह स बनाना चाहिए ॥२ –२४॥

ऊचाई के आधे क तीन भाग करके और फिर तीसरे भाग के दश भाग करें—वामन आतपत्र, कुबेर भ्रमरावली हसपृष्ठ महाभोगी नारद शम्बूक जय और दनावा अनन्त न्पति मुण्ड की रेखाओ की प्रसिद्धि क लिए इन उदयो का निर्माण करे ॥२५–२७½ ॥

इस प्रकार आवेदिका जाल और मत्तवारणो से शोभित वितर्दिकाओ और निर्यूहो से युक्त चन्द्रशाला से विभूषित कर्माढ्य और बहुचित्र उस पृथ्वी जय नाम का प्रासाद निर्माण करे ॥२७½–२८॥

जो बडे बडे प्रासाद कह गये ह वे बराबर ऊचाई वाले बनाने चाहिये। अथवा कोण म ऊचाई क आधे से छोटे हो यह क्रम है ॥२६॥

आगे भाग से ऊचाई क्षेत्र विस्तार युक्त दूसरा प्रासाद कहा गया ह। इसका नाम विभूषण (क्षोणी विभूषण) ह ॥३०॥

जिन मे बहुत स निकर हो उन मे आगन दिया जाता ह। पहिली

रेखा अथवा दूसरी रेखा मे या फिर तीसरी रेखा म सन्चरण बनाय गय है। दस भाग वाले क्षेत्र मे इस तरह से भूमि का उदय करना चाहिए। कम और अधिक विभक्त क्षेत्र होने पर यथोचित करना चाहिए ॥३१—३३½॥

अब क्रम प्राप्त मुक्तकोण नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता ह ॥३२॥

क्षत्र क चौकोर कर लने पर द्वादश भागा मे विभाजित करन पर इस के मध्य भाग को चार खम्भो से विभूषित करना चाहिए एक भाग से अलिन्द १२ खम्भो से युक्त होता ह और इसी के समान दूसरा अलिन्द भी बीस घरो से धारित कहा गया ह। तीसरा अलिन्द २८ घरा म और चौथा अलिन्द ३६ से ६४ घरा म पाचवा कहा गया है ॥३४—३७½॥

आध भाग से दीवाल बनवावे, डेढ भाग का छोडकर फिर तीन भाग करे। उस से प्राग्रीव का दैर्घ्य और विस्तार बनावे। इन के विस्तार और निगम एक भाग म भद्र का निमाण करे। उसम एक भाग छोड कर इस का दूसरा भद्र होना है। भाग निगम और विस्तार का सभी दिशाओ में यही क्रम है ॥३७½ ३९॥

५४ खम्भा स युक्त एक एक भद्र युक्त होता है और इस क मध्य म १४४ खम्भ विहित है अथवा २१६ होना मिला कर इस प्रकार से सब घरो की सख्या ३ ० (१४४+२१ =३६०) हुई। यहा पर शष निर्माण पृथ्वी जय क समान ही इष्ट होना ह ॥४०—४२ ॥

सम्पूर्ण निकायो मे तीसरी भूमिका क ऊपर प्रागनो का निर्माण करना चाहिए। यह विशेष यहा पर फिर बता दिया गया ह ॥४२½—४३½॥

इसी प्रकार सवतोभद्र सज्ञक तथा नन्द्यावर्त सज्ञक राज वेश्मो म यही विधान करना चाहिए। और यही मण्डपस्था प्रसिद्धि क लिए क्रम ह ॥४३½—४४½॥

श्रीवत्स क भी मध्य म मुक्तकोण क समान स्तम्भ आदि प्रकल्पन करें। डढ भाग को छोड कर तीन भागो म विस्तृत एक भाग स निकला हुआ इसका प्राग्रीव होना है और इस का भी मुक्तकोण क समान ही मध्य भद्र का विधान है। यह विधि सम्पूर्ण दिशाओ म है। शष पूर्ववत है। हर एक भद्र मे ३० दस शुभ खम्भ होते है सब घरो की सख्या १२० होता है और इसी प्रकार स सब स्तम्भो की सख्या २६४ होता है ॥४४½—४८॥

सर्वतोभद्र नामक वेश्म का अब लक्षण कहत है। चौकोर क्षत्र को १४ भागो मे विभाजित करन पर चार खभो म विभूषित और इसका चतुष्क एक भाग वाला कहा गया है और द्वादश खभा म युक्त प्रथम अलिन्द बीस म दूसरा

२८ स्तम्भा स तीसरा ३६ से चौथा ४४ मे पाचवा, ५२ म छठा प्रलिन्द विहित है। सब ओर से सुदृढ और घन आधे भाग से दीवाल कही गयी है ॥४६—५३॥

डेढ भाग को छोड कर तीन भागो से विस्तृत कण का प्राग्ग्रीवक विहित है और एक भाग से निगम ॥ ५४ ॥

भाग निगम विस्तत इसका भी भद्र करना चाहिए। दो भागो स निकला हुआ मध्य मे भद्र बनाना चाहिए। इसका भी बीच मे तीन भागो से विस्तृत भद्र होना चाहिए। एक भाग से निगम अन्तर भाग स निगत कहा गया है। भाग-विस्तार से युक्त दूसरा भद्र प्रकल्पित करना चाहिए। भद्रा के प्रकल्पन मे यह विधान सब दिशाओ मे बताया गया है ॥५५-५७॥

इस राज-प्रासाद के मध्य भाग मे स्तम्भो की सख्या १६६ होनी चाहिए और इन सभी भद्रो मे १६० खम्भ होवें इस प्रकार सब स्तम्भो की सख्या ३५६ होती है। परन्तु इसकी जघा तीन भूमिकाओ वाली बतायी गई है ॥५८-६०½॥

शत्रु-मदन नामक राज वेश्म का अब लक्षण कहते हैं। पृथवी जय के समान मध्य मे इसकी दीवाल उसी प्रकार होनी चाहिए। डेढ भाग को छोड कर एक भाग से आयत और विस्तत और उस के बीच मे तीन भागो स विस्तृत भद्र बनावे और इसी प्रकार तीन भागो से निकला हुआ भद्र बनावे। दोनो ओर का भद्र आयति और विस्तार मे तीन भागो स विस्तार और एक भाग स निगम विहित है। वहा पर भी मध्य भद्र एक भाग से आयत और विस्तत यही क्रम इस की सिद्धि के लिए सभी दिशाओ मे करनी चाहिए ॥६०½—६४॥

इसकी ऊपर की भूमिया पृथवी जय के समान ही करनी चाहिये और प्रति भद्र ४४ स्तम्भो स युक्त कहा गया है ॥६५॥

इसके मध्य म सब सुदृढ और शुभ खभ बनाये जाय। इस तरह इसके २७६ खभे होते है ॥६६॥

इन पाचो राज-भवनो का ८०० हाथो का उत्तम मान, उत्सध और विस्तार विहित है। अत कल्याण चाहने वाले के द्वारा यह मान सम्पादित किया जाना चाहिए। मध्यम एव अधम का मान पृथवी जय मे बता ही दिया गया है ॥६७-६८½॥

अब राजाओ के क्रीडा के लिए और पाच भवन बताये जाते है। पहला है क्षोणी-विभूषण दूसरा पृथिवी तिलक तीसरा प्रताप वधन चौथा श्री-निवास और पाचवा लक्ष्मी विलास। इस प्रकार स ये पाच राज-वेश्म वर्णित किये

गये है ॥६८३—७०३॥

क्षेत्र के चौकार करने पर दस भागो म विभाजित कर मध्य मे चार खम्भा वाला चतुष्क बनाना चाहिए। बाहर का अलिन्द एक भाग और अन्त मे अश-त्रय से आयत तीन भागो से विस्तत कर्ण-प्रासादो का निर्माण करना चाहिए। उनके मध्य मे षड दारुक होना चाहिए। आधे भाग के प्रमाण से युक्त दीवाल और उसका चतुष्क बहिर्भाग-निष्क्रान्त और भद्र मे एक भाग मे विस्तत तीन प्राग्रीवो से युक्त और एक भाग के अलिन्द से वष्टित और आध भाग की भित्ति से वेष्टित होना है। इस प्रकार यह मनोहारी अवनि शखर (शोणी विभूषण) राज प्रासाद होता है। ७०१/२–७४॥

क्षत्र के चौकार कर लेने पर १२ भागो म विभाजित कर मध्य मे एक भाग से चतश्क और दो भागो से बाहर के दो अलिन्द कर्णो मे नवकोष्ठक-प्रासादो का सनिवश करे और उनके अदर षड्दारुक का सनिवश भी अनिवार्य है। तब बाहर सब तरफ आध भाग से दीवाल बनानी चाहिए। भद्र मे एक भाग से आयत चारो दिशाओ म भाग निष्कान्त होना चाहिए। और इस का चतुष्क एक भाग वाले अलिन्द से वष्टित कहा गया है और इसकी तीन भद्रायें भाग विस्तार और निगम वाली बनाना चाहिए और वे आध भाग की भित्ति मे वेष्टित हो। एसा विधान है--कर्ण कर्ण मे विस्तीर्ण भाग निगत २ भद्र चाहिये। इस प्रकार का राज-प्रासाद भुवन-तिलक नाम मे सकीर्तित किया गया है॥७५—८०१/२॥

क्षत्र का चौकोर कर लेने पर उस को १२ भागो मे बाट लने पर चार खम्भा वाला चतुष्क मध्य म एक भाग से निर्मित करे और उसके बाहर वाला आलिन्द एक भाग मे और दूसरा भी एक भाग से। कर्णो म नवकोष्ठक-प्रासादो का विनिवश करें और उसके अन्दर षड्दारुको का लगाव। उसके बाद बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनावे। भद्र म एक भाग से आयत भद्र विनिष्क्रान्त चार खभो वाला चतुष्क होना है और वह एक भाग वाले दो अलिन्दो से परिवष्टित होता है। तीन भागो म विस्तत एक भाग विनिगत बाहर का भद्र होता है। दोनो तरफ सोना भद्र एक भाग से बराबर करने चाहिये और भद्र के चारो तरफ बाहर की आध भाग म भित्ति कही गई है। चारो दिशाओं म इस प्रकार विधान कहा गया है और यह प्रासाद विनाम-स्तबक के नाम से प्रसिद्ध है ॥८०१/२—८६॥

कर्ण के न दो प्राग्रीव और शाला क दो प्राग्रीव जब इसके हो तो

इसका नाम कीर्ति पातक कहा गया है ।। ८७ ।।

इसी की पीठ पर चारो तरफ आठ निमु क्त शालाओ से परिवष्टित एव शालाये एक दूसरे से सम्बद्ध कर्ण-प्रासादो से युक्त शालाजित कोना से युक्त प्रासादो मे सुदर भुवन-मण्डन जानना चाहिए ।।८८—८६।।

तल छन्द ये बताय गय जो जघा सवरण आदि और भूमि मान आदि सब पृथ्वी जय के समान होते है ।।६०।।

अब क्षोणी-भूषण वेश्म का लक्षण कहता हू ।। ६१½ ।।

५५ हाथो म कल्पित चौकोर भूमि को आठ भागो मे विभक्त कर, चार खभो से युक्त चतुष्क बताया गया है और इसका अलिन्द पहला १२ खम्भा से और दूसरा २० और तीसरा २८ स युक्त होना है ।।६१½–६३ ।।

भित्ति के डढ भाग को छोड कर एक भाग से निगत, पाच भाग स विस्तीर्ण भद्र कहा गया है और दूसरा मध्य भद्र भी तीन भागो स विस्तत और एक भाग से निगत बनाना चाहिए । उसके आगे के भद्र एक भाग स विस्तृत और एक भाग स निगत कहे गय है । इस प्रकार स इसकी सिद्धि क लिए यह विधि सब दिशाओ मे बतायी गयी है । सारदारु से निर्मित एव १८ हाथ क प्रमाण से ६४ मध्य-स्तम्भो स युक्त प्रत्यक भद्र का निर्माण करे । इस तरह यहा पर सब जगह खभो की सख्या १८६ होती है । इसक चार दरवाज करने चाहिये जो यश, लक्ष्मी और कीर्ति का वधन करने वाल होते है ।।६४—६८।।

अब पथिवी-तिलक का लक्षण कहा जाता है । ४० हाथ वाल क्षेत्र को तीन भागो मे विभक्त कर भीतर क चार खभो से भूषित एक भाग से चतुष्क और अलिन्द भी बारह खभो स युक्त एक भाग वाला होना है और दूसरा अलिन्द बीस स और इसकी भित्ति एक पाद वाली (पादिका) कर्ण म तीन भागो से निगत आयत प्रासाद (कर्ण प्रासाद) कहा गया है ।।६६–१०१।।

एक भाग निगत एव विस्तत इसके दोनो भद्रो का निर्माण करना चाहिए । कर्ण और प्रासाद क मध्य मे पाच भागो से विस्तत और एक भाग से निगत मध्य भद्र कहा गया है । तीन भाग से विस्तीर्ण एक भाग मे निगत मध्य मे दूसरा भद्र बताया गया है । इस प्रासाद के भीतर ३६ खभ और भद्रो पर २०८ खभे बताये गये है ।।१०२—१०४।।

अब इसके बाद श्रीनिवास का लक्षण कहता हू । इसका मध्य पाथवी-तिलक के समान परिकीर्तित किया गया है। सपाद भाग छोड कर तीन भाग से विस्तत, एक भाग से निर्गत इसका पहला भद्र होना है । उस के भी मध्य

भाग वाला दूसरा भद्र एक भाग से निर्गत एवं विस्तृत, सदृढ दस खंभों से युक्त कहा गया है। सभी दिशाओं में इसी प्रकार की भद्र-कल्पना की जानी चाहिए। इकट्ठी संख्या से इसके ७६ खम्भें होते हैं ॥ १०५—१०८ ॥

अब इसके बाद प्रताप-वर्धन का लक्षण कहा जाता है। साढ़े अट्ठाइस हिस्सों में विभक्त होने पर मध्य में चार धरा (खम्भों) से सम्पन्न और भागों विहित चतुष्क और इसका अलिन्द १२ खंभों से युक्त एवं भागविहित बताया गया है। इसकी भित्ति पादिका नोनी है और इसका भद्र भाग-निर्गम-विस्तार वाला चार स्तम्भों से भूषित होता है। इसकी सिद्धि के लिए समग्र दिशाओं में यही विधि करनी चाहिए। बाहर भीतर के ३२ स्तम्भ कहे गये है और सभा धरा (खभो) की गणना ८४ कही गयी है ॥१०९—११३½ ॥

अब लक्ष्मी-विलास का ठीक तरह से लक्षण कहता हूँ। प्रताप वर्धन की तरह ही इसका मध्य प्रकल्पित करें। प्रताप वर्धन के समान ही सब तरह से यह कहा गया है। परन्तु इसके भद्रों के कोनों में ही पार्श्व-भद्र करना चाहिए और दोनों पार्श्वों में भी भद्रों का सन्निवेश कहा गया है। इन भद्रों का निर्गम एक भाग का होता है—यह विषय कहा गया है। इसका भद्र १० खम्भों से और मध्य भद्र १० धरों से विहित बताया गया है। चारों दरवाजे इच्छानुसार क्षणम-ध्यग और अलिन्द पर में समाश्रित दूसरा दरवाजा बनावें ॥११३½—११७॥

अब विशेष उल्लेखनीय विधि यह है कि साढ़े छै भूमियों से क्षोणी-भूषण का निर्माण कर और पृथिवी तिलक-सञ्ज्ञक सम्म साढ़े आठ भूमियों से धरानिवास साढ़े पाँच भूमियों में लक्ष्मी विलास भी साढ़े पाँच भूमियों में तथा प्रताप-वर्धन साढ़े चार भूमियों में विनिर्मेय है। ११५-१२०½ ॥

राजाओं के पृथ्वी-जय आदि निवास-भवन और क्षोणी-विभूषण आदि विलास-भवन जो राजाओं के निवास और विलास के लिए कहे गये हैं उन पृथ्वी जय आदि राज वेश्मों के दरवाजों का अब मान कहा जाता है ॥ १२०½—१२२½ ॥

५८ अंगुल सहित तीन हाथ से विस्तृत द्वार का उदय अर्थात ऊँचाई कही गयी है, उसके आधे से उसका विस्तार और उसके उदय के तीसरे भाग से खंभा का पिण्ड कहा गया है ॥ १२२½-१२३ ॥

सपाद, सचतुष्क, सत्तादसवा गह भाग राज वेश्मों की पहिली भूमि कही गयी है ॥ १२४ ॥

भूमि की ऊँचाई के नौ भाग से विभक्त करने पर उसके चार अंशों में निर्गम,

दो अगा से छाद्यक और पाद कम से ऊंचाई विहित बतायी गयी है ॥ १२५ ॥

इसी प्रकार से भीतर की जमीन छाद्यक-उच्छ्राय निगत हर्गीग्रहण-पिण्डाग्र बाहल्य करने पर वह प्रशस्त होती है। उसका अपना ही बाहल्य पादकम विस्तत कहा गया है। अंतरावलिका के समान मदला का विनिगम बनाया गया है। अपर निगम से उसका पाद सहित ऊंचाइ हाती है और इसकी भूमि की ऊंचाई के नव अग के पाद से इसका पिण्ड इष्ट होना है। तीन भाग से कम भूमि के नौ अंशा से मदला का विस्तार कहा गया है। लुमा मूल का विस्तार स्तभा का आधा कहा गया है। वह तीन अंश से अग्रभाग में विस्तीर्ण और आठ से मूल में विहित बतायी है ॥ १२८-१३०½ ॥

मनीषियों ने तुम्बिनी, लुम्बिनी हला, शाला कोला मनोरमा तथा आध्माता—ये सात लुमाये बताई है। उनमें से तुम्बिनी सीधी होती है और आध्माता वगाग्र बनाई गयी है। क्रमश अन्तराल में पांच अन्य लुमायें कही गयी है ॥१३०½-१३२ ॥

स्तम्भ में पाद धरने के लिए दृढ़ शुभ मदला रखवे। स्तम्भ के अभाव में फिर उसके कुड्य-पट्ट पर बुद्धिमान रखवे। मत्तल-नामक छाद्य में सात अथवा पाच या तीन लुमायें कही गयी है। ... कोना में इन के अलावा अन्य प्राञ्जल और सम बनानी चाहिये। छाद्य में वर्ग से कहीं कहीं उनको मत्स्य आनन अलङ्करण से विभूषित बनाना चाहिए। ये विद्याधरों से युता और कहीं पर गजतुण्डिका-मना (सूड वाला) बनाना चाहिए ॥१३२½-१३५½॥

इस मत्तम्भिक-स्तम्भ का उदय तीन प्रकार से विभाजित कर उस में दो भाग का अ ... चार भाग करे। वहा पर पादकम भाग से राजितासनक आवक्त होना है और उसके पाद उत्कालक-सहित मात्तिभागा वदी विनिर्मित होती है ॥१३५½-१३७½॥

यहा पर कूटागार के तुल्य अबाध से आसन पट्टक बनाना चाहिए। वह अभीष्ट विस्तार वाला एक भाग से ऊंचा मत्तवारण होता है और अपने उदय के तीसरे भाग से ढंका इसका निगम होता है ॥१३७½ १३८॥

रूपकों से और करण आदि और सुपुत्रों से भी सुशोभित इस का सुंदर पत्रों से निचित वेदिका आदि शुभ होती है और उसको लोहे की शलाकों और नालों से दृढ़ कर देना चाहिए ॥१३९ १४०½॥

इन निरूपित पृथ्वी-जय प्रभति १६ राज -निवेशनों के जो स्थपति लक्षण सहित परिमाण जानता है वह राजा के सन्तोष का भाजन बनता है ॥१४१॥

राज-निवेश-उपकरण

१ सभाष्टक

२ गज शाला

३ अश्व शाला

४ नृपायतन

सभाष्टक—आठ सभा-भवन

आठ प्रकार की सभायें (सभा भवन) होती है—नन्दा जया पूर्णा भाविता दक्षा प्रवरा और विदुरा ॥१॥

क्षेत्र को चौकोर कर बारह भागो म विभाजित कर मध्य म चार पद हो और सीमालिन्द एक भाग वाला हो । उसी प्रकार आदि का आलिन्द और उसी प्रकार प्रतिसर नामक अलिन्द भी विहित है । और प्राग्रीव नामक तीसरा अलिन्द क्षेत्र के बाहर चारो दिशाओ म होना चाहिए ॥२–३॥

राज भवन की चारो दिशाओ मे सभा भवन बनाने चाहिये । क्रमश नन्दा भद्रा जया पूणा ये सभायें होती है ॥४॥

क्षेत्र का षड भागो म विभाजित करने पर कर्ण-भित्ति का निवेशन करे तो प्राग्रीव वाली भाविता नाम की पाचवी सभा होती है । इन पाचो सभाओ म ३६ खम्भो का निवेशन कर और प्राग्रीव स सम्बन्धित खम्भो को इन से अलग अलग विनिवेशित कर ॥ ५–६ ॥

दक्षा नाम वाली छठा सभा चारो तरफ से तृतीय अलिन्द म वेष्टित कही गयी है और प्रवरा नाम की सातवी यह सभा द्वारा से युक्त परिकीर्तित की गयी है । प्राग्रीव और द्वार स युक्त आठवी विदुरा नाम की सभा कही गयी है । इस तरह इन आठो सभाओ का लक्षण बताया गया है ॥ ७–८ ॥

इस प्रकार से आठो सभाओ का ठीक तरह से दिशा सम्बन्धित अलिन्द भेद स लक्षण बताया गया है । उसी प्रकार स द्वार और अलिन्द के सयोग के जानने पर राजाओ का स्थान योग भी सम्पादित होता है ॥ ९ ॥

गज-शाला

अब गज शालाओं का लक्षण कहता हूं ॥१॥

चौकोर क्षेत्र बना कर फिर आठ भागों से विभक्त कर मध्य में दो भागों से विस्तृत हाथी का स्थान बनाये। प्रासाद के समान ज्येष्ठ, मध्यम और अधम गजशालाओं के भागों का प्रकल्पन करे ॥२—२॥

उसके बाहर एक भाग में अलिन्द और उसके भी बाहर दूसरा अलिन्द, एक भाग से भित्ति का निर्माण भी उसके अलिन्द से बाहर करना चाहिये ॥३॥

उस गजशाला के दरवाजे पर दो द्वारों का निर्माण करना चाहिये और दूसरे अलिन्द के सहारे वण प्रासान्तिका का निर्माण करना चाहिए ॥४॥

दीवार में चारों दिशाओं में दो दो गवाक्षों का निर्माण करना चाहिए। अग्रभाग में प्राग्रीव होना चाहिए। इस शाला का नाम सुभद्रा बताया गया है ॥५॥

जब इसी शाला के सामने दो पक्ष-प्राग्रीव होते हैं तब इस शाला का नंदिनी नाम चरितार्थ होता है। यह हाथियों की वृद्धि के लिये शुभ कही गयी है ॥६॥

इसी शाला के दोनों तरफ जब दोनों प्राग्रीवों का सन्निवेश किया जाता है तो गज-शाला का यह तीसरा भेद सुभोगदा नाम से परिकीर्तित किया जाता है ॥७॥

इसी शाला के पीछे जब दूसरा प्राग्रीव निर्माण किया जाता है तो गजशाला का यह चौथा भेद हाथियों को पुष्टि देने वाली भद्रिका नाम से विख्यात होती है ॥८॥

पांचवीं गज-शाला चौकोर होती है और वह वर्धिनी नाम से कीर्तित होती है। इसके अतिरिक्त छठी गजशाला प्राग्रीव, अलिन्द नियूह से हीन बतायी गयी हैं। धान्य धन और जीवन का अपहरण करने वाली यह प्रमालिका नाम की शाला होती है। इस लिए इसका वर्जन किया गया है और अन्य सब गज-शालाओं का सकल मनोरथ-सम्पादन के लिए निर्माण करना चाहिए ॥९—१०॥

वास्तु शास्त्र में इस प्रमाणिका नाम की जो शाला कही गई है वह जीवन, धन और धान्य के नाश का कारण होती है। इस लिए उसको न बनाए और जो श्रेष्ठ शालायें कही गई हैं उनको जीवन और धन की वृद्धि के लिए अवश्य बनावें ॥११॥

अश्व-शाला

अब अश्व शाला का लक्षण विस्तार-पूर्वक कहता हूं। अपने घर की वास्तु अर्थात् राज प्रासाद के गन्धर्व-संज्ञक पद में अथवा पुष्पदन्त-संज्ञक पद में घोड़ा के रहने के लिए स्थान बनाये ॥१—२½॥

ज्येष्ठा शाला सौ अरत्निया (हाथ) के प्रमाण की मध्यम ८० और अधम ६० की कही गई है ॥२½—३½॥

सुपरिरक्षित प्रदेश में मांगलिक स्थान पर घोड़ों का शुभ स्थान बनाना चाहिए। यह प्रदेश ऐसा हो जिसका स्थल-प्रदेश अर्थात् मैदान काफी बड़ा हो वह स्थान गुप्त हो, सुन्दर और शुचि होना चाहिए बराबर चौकोर, और स्थिर भी विहित है ॥३½—४॥

नीचे के गुल्म अर्थात् क्षुद्र झाड़ियां और सूखे वक्षों चैत्य और मन्दिर तथा बावी और पत्तराग से वर्जित प्रदेश में घोड़ों के स्थान का सन्निवेश करे।

निस्सग कांटों से रहित (शल्य-हीन) पूर्वाभिमुख जल-सम्पन्न प्रदेश में ठीक तरह से देखदाख कर उसका निर्माण करे ॥५-६॥

ब्राह्मणों के द्वारा बताये गये किसी शुभ दिन स्थपतियों के साथ भूमि के विभाग को देख कर सुभग एवं शुभ वृक्षों को लाना चाहिए जिनकी लकड़ी से अश्व शाला के सम्भार प्रतिष्ठाप्य होंगे। ऐसे वृक्ष नहीं लाने चाहियें जो श्मशानों में, देवतायतनों में अथवा अन्य निषिद्ध स्थानों में उत्पन्न हुए हों ॥७—८॥

गृह स्वामी के घर के समीप प्रशस्त वृक्षों को लाकर फिर प्रशस्त और अप्रशस्त भूमि की परीक्षा करे ॥९॥

श्मशानों में, बांबी प्रदेशों में, ग्रामों में और धान्य के कूटने वाले स्थलों में और विहार-स्थानों में घोड़ों का निवसन स्थान नहीं बनाना चाहिए ॥१०॥

गावों में और धान्यखलों में अश्व-शाला के निवेशन करने से स्वामी को पीड़ायें प्राप्त होती हैं। श्मशान में वाजि-वेश्म-निवेशन से मनुष्यों की मृत्यु कही गयी है ॥११॥

विहारों और वल्मीकों में बनाया गया अश्व-स्थान अनर्थकारी तथा

तपस्वियों के लिए नित्य सताप-कारी और विनाश कारी होता है ॥१२॥

चैत्य मे उत्पन्न होने वाले वृक्षों के द्वारा निर्मित वाजि सदन देवोपघात का जन्म करने वाला स्त्रियों का नाश करने वाला और भर्ता का भय देने वाला होता है ॥१३॥

काटे वाले पेडो से विहित होने पर स्वामी के लिए रोग-कारक होता है। फटी हुई और उन्नत जमीन पर करने मे वह क्षयावह होती है ॥१४॥

नीची भूमि मे बनाया गया वाजि मन्दिर क्षुधा और भय का कारण कहा गया है। इस लिए उसको प्रशस्त भूमि मे घोडों की वृद्धि के लिए करना चाहिए ॥१५॥

शुभ और रमणीय मनोज्ञ और चौकोर स्थान मे बनाया गया वाजि मन्दिर सदा कल्याण कारक होता है। स्थपति वाजियों का निवसन इस प्रकार करे कि मालिक के निकलने पर उसके वाम पार्श्व मे घोडे हों। अन्त पुर-प्रदेश (रनिवास) के दक्षिण भाग पर उसका निर्माण करना चाहिए जिस से राजा के अन्तपुर मे प्रवेश करने पर दाए तरफ उनका हिनहिनाना सुनाई पडे ॥१६—१८॥

स्वामी के हित के लिए घोडो की शाला उचित करनी चाहिए और उस का मुख (दरवाजा) तोरण सहित पूर्व की ओर या उत्तर की ओर बनावे। १९॥

प्राग्रीव मे युक्त चार शालाओं वाला और खुला हुआ दस अरत्नि ऊंचा और आठ अरत्नि विस्तृत नागदन्तों (खूटियों) से शोभित सामने आगे कुड्य से युक्त हो वहा पर इस प्रकार के वाजि स्थान की कल्पना करे और वहा पर घोडों के थाने बनाने चाहिए जो पूर्व मुख हों अथवा उत्तर-मुख हों। आयाम मे एक किष्कु और विस्तार मे तीन किष्कु ॥२० २२॥

उनके ऊपर के भागों को लम्बे ऊँचे और चौकोर बनाना चाहिए। उन मे आगे से ऊँची सुख सचार भूमि की प्रकल्पना करे। सूत्र के मध्य-भाग मे एक हाथ स्थान चारों तरफ मजबूत बराबर चिकने और घन फलको मे बिछा दें। ॥२३—२४॥

धातकी, अर्जुन पुन्नाग कुकुम आदि वृक्षों से विनिर्मित आठ अगुल ऊंचे आधे आधे हाथ विस्तृत बिना छेद वाले दोनों पार्श्वों पर लोह से बद्ध और सघत जन्तु-रहित लकडियों मे शुभ नियहों से खूब विस्तीर्ण घास अथवा भसे का स्थान होना चाहिए। वह एकान्त मे सुसमाहित और तीन किष्कुओं मे ऊँचा होवे ॥२५—२७॥

खाने की नाद दो हाथों के प्रमाण की बनानी चाहिए। यह विस्तार और ऊँचाई मे बराबर, बिना दुर्गन्ध और सूपलिप्त होना चाहिए ॥२८॥

स्थान स्थान पर तीन खूटे बनाने चाहियें। जिन मे दो, घोडे के पाच अगो के निग्रह (पञ्चाङ्गी निग्रह) के लिए बनाये जाते है। एक पीछे बाधने के लिए सुगुप्त परिकल्पन करे। हस्ति शाला के चारो कोनो पर चार हाथ छोडकर इन सभी स्थानो मे घोडो का निवसन करे ॥२७–३१½॥

छूटे हुए इन स्थानो पर बलि, होम, स्वस्ति-वाचन तथा जप कराना चाहिए ॥३१॥

ग्रीष्म ऋतु मे पृथ्वी को खूब सीच देना चाहिए और वर्षा ऋतु मे उस स्थल को जल और कीचड से व्याप्त नही होने देना चाहिए और शिशिर ऋतु मे वह ढका हुआ होना चाहिए जिससे यहा पर बिना किसी सकोच और सकीर्णता के घोडे बैठ सकें। उन्हें इस तरह से बाधे कि वे एक दूसरे का स्पर्श न कर सकें। और सभी प्रकार की बाधाओ से वे अपने को वर्जित समझें ॥३२–३३॥

दक्षिण-पूर्व दिशा मे वह्नि का स्थान प्रकल्पन करे और जल का कलश इन्द्र की दिशा (पूर्व) मे समाश्रित कर के रक्खे ॥३४॥

ब्राह्मी दिशा मे घास अथवा भूसे का स्थान बनाना चाहिए और वायव्य दिशा मे औदक का स्थान बनाना चाहिए ॥३५॥

निःश्रेणी, कुश और फलक से ढके हुवे कुवें, कुद्दाल, उद्दाल गुडक सुत्त्योग और सूर कच ग्रहणी, सीग और कश, नाडी और प्रदीप ये सब सभार बाजि-शाला के उपयोगी कहे गये हैं ॥३६–३७॥

सुख-सचार-वस्तुओ के सग्रह का स्थान नैऋत्य कोण मे होना चाहिए। अग्नि के उपद्रव की रक्षा के लिये और बध और छेद के उपयोगी पदार्थों जल, दीपाधिका को पास ही मे बुद्धिमान रक्खे। जल लाने के लिए घडे अलग रखने चाहिय। हस्तवासी शिला दीप दर्वी फल और जूते (उपानह), पिटक, चित्र-विचित्र पिञ्छ और नाना प्रकार की वस्तिया और इसी प्रकार के अन्य वस्तुओ को प्रयत्न-पूर्वक रक्खें। आगे के खभे मे सन्नाह आदि का भाण्ड रक्खें ॥३८–४१॥

पूर्व-मुख घर मे उत्तर दिशा मे घोडे का स्थान दे अथवा मित्र और वरुण के पूर्वाभिमुख पद मे उसे स्थापित करें। इस व्यवस्था से बहुत से घोडे हो जाते हैं और वे पुष्टि को प्राप्त करते हैं क्यो कि वह दिशा पूजनीय एव प्रशसनीय प्रकीर्तित की गयी है ॥४२–४३॥

होम शान्ति कर्म और दान जो धार्मिक क्रियाये कही गयी है उनमे स्वय इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व दिशा प्रशस्त कही गयी है ॥४४॥

उस दिशा मे सूर्य अपनी स्वाभाविक दिशा मे उदय होता है। फिर वह

घोडो के पीछे से क्रमश पश्चिम दिशा की तरफ जाता है। कल्याणार्थियो को घोडो का पूर्व-मुख स्नान सजावट (अधिवासन), पूजा तथा अन्य श्रेष्ठ मागलिक कार्य करने चाहियें ॥४५-४६॥

ऐसा करने पर राजा को भूमि सेना मित्र और यश वृद्धि को प्राप्त होते है। इसलिए प्राची दिशा ही प्रशस्त कही गयी है ॥४७॥

वाछित अर्थ को देने वाला स्वामी की वृद्धि करने वाला ग्राम का स्थान दक्षिणाभिमुख शाला मे विहित है। सूर्य के पद मे बनाया गया घोडो का स्थान होता है क्योकि वह दिशा अग्नि मे अधिष्ठित कही गयी है और अग्नि घोडा की आत्मा कही गयी है। वहा पर बधा हुआ घोडा अजर और बहुभोक्ता होता है और उत्तर मुख वाले वाजि सदन म भी घोडे कल्याण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से घोडो के स्थित होने पर सूर्य दहिने उदय होता है फिर उन को दहिने करके अस्त होता है। घोडो के वाम भाग से निकलता है। इसलिए उनको उत्तराभिमुख स्थापित करना चाहिये। उनको इस प्रकार से बाधे जिस से चन्द्र और सूर्य के सम्मुख हिनहिनाये। राजा जय सिद्धि पुत्र और आयु को प्राप्त करता है और अश्व नीरोग रहते है और सन्तति को बढाते है ॥४८-५३॥

दक्षिणाभिमुख उनको कभी न करे क्योकि दक्षिण दिशा पितृ कार्य के लिए कही गयी है। अत वह इस काम के लिए वर्जित है। इसी दिशा म सब प्रेत प्रतिष्ठित है और सूर्य बाये म उदय होता है और दक्षिण म अस्त होता है ॥ ५४-५५ ॥

चन्द्रमा पीछे हो जाता है जिससे घोडे भेद-पीडा म पीडित होते है और विविध ग्रहो के विकारा से अशान्ति-विह्वल व बेचारे पीडित होते है। भय और व्याधिया से दुखित व घास को नही खाने की इच्छा करते है और मालिक की पराजय अतुष्टि अनर्थ उपस्थित करते है इसलिए कभी भी उनको दक्षिणाभिमुख न बाधे ॥५६-५८॥

पश्चिम दिशा म अर्थात पश्चिमाभिमुख घोडा को बाधने पर सदैव सूर्य पृष्ठ भाग से उदय होता है और सामने से अस्त होता है। इस तरह नत-पृष्ठ-वर्ती स्वामी की विजय नही होती और चन्द्र के पृष्ठ-वर्ती होने के कारण और सूर्य की प्रतिकूल दिशा होने के कारण देह का विनाश करने वाली व्याधिया उन घोडो के लिए शीघ्र ही कुपित होती हैं। उन से वे घोडे घबराते हैं कापते है और जल म डरते है और घास को नही खाते हैं और सब प्रकार से पृथ्वी

को छोडत है ॥ ५६-६१ ॥

आग्नेयी-दिशाभिमुख यदि घोडे बाधे जाते हैं तो रक्त पित्त से उत्थित अनेक रोगो से वे पीडित होते हैं और वे स्वामी को बधन, वध, हरण, शोक देने वाले होते है। घोडो के लिए भी वहा पर अग्नि से जल जाने का भय होता है ॥ ६२-६३ ॥

स्वामी को पराजय विघ्न और देह का सशय प्राप्त होता है यदि नैर्ऋत्य दिशा मे घोडे बाध जाते हैं और तब भोजन और पान का अभिनन्दन नही करत है और अपन परो से बार बार पृथ्वी को फाडते हैं। मनुष्यो, पक्षियो और पशुओ को देख कर बार बार हेषन करते हैं और नैर्ऋती दिशा के दोनो तरफ स्थित होकर अपने शरीरो को घुमाते है तथा इन से राक्षस लोग कुपित होकर उनका नाश करते है ॥ ६४-६७½ ॥

यदि ये अज्ञान-वश वायव्याभिमुख बाधे जाते हैं तब वात रोगो मे वे प्रतिदिन पीडित होते है। स्वामी का कलेवर चलायमान होने लगता है और उसके नौकरो के लिए क्लेश होता है। मनुष्यो की मृत्यु होती है और दुर्भिक्ष का भय पैदा होता है ॥ ६७½-६९½ ॥

ऐशान्याभिमुख बधे घोडे नाश प्राप्त करत है। सूर्योदय के अभिमुख बद्ध वाजियो के लिए यह आदेश करना चाहिए कि ब्राह्मी-दिशाभिमुख जब घोडे बाधे जात है तो वे घोडे दिव्य-ग्रहो से बधते है और व्याधियो से चिन्तनीय हो जाते है। वहा पर स्वामी के लिए कव्य और हव्य की क्रियाये विजयावह नही कही गयी हैं। वहा पर घोडे ब्राह्मणो के लिए ताप-कारक हो जाते हैं। ॥६९½-७२½॥

शाला के प्रत्येक वश के पीछे घोडे का स्थान इष्ट नही होता है क्योकि स्वामी के लिए वह अजीर्ण कारक और घोडे के लिए नाश-कारक कहा गया है। इसलिए सर्वथा प्रशस्त स्थान मे उनको बसाना चाहिए ॥७२½-७३½ ॥

स्वस्थ घोडो के पास एक क्षण के लिए भी रोगी घोडो को नही बाधना चाहिए क्योकि रोगो के सक्रमण से स्वस्थ घोडे भी रोगी हो जाते है ॥७३½-७४ ॥

वाजि-शाला के पूर्व मे भेषज मन्दिर निर्माण कराना चाहिए और उसी के बाये तरफ सब सामग्री के रखने के लिये स्टोर बनाना चाहिये। घोडो की दवाई के लिए भाण्डो का विनिक्षेप करे और साथ ही साथ अगदो, औषधियो, तैलो, वर्तिया और लवणो का भी सग्रह अनिवार्य है ॥ ७५ ७६ ॥

भेषजागार के पास अरिष्ट-मन्दिर बनवाना चाहिए। रोगी घोड़ों के लिए व्याधित-भवन भी बनाने चाहियें ॥ ७७ ॥

ये चारों वेश्म पूर्व-निर्दिष्ट वेश्म के समान सुगुप्त एवं सम्बद्ध विहित करें। चूने के बंध से मजबूत दीवालों से प्राग्रीव और उच्च तोरण के सहित ये चारों विशाल (विना॰ [illegible] बनवावें और इस प्रकार के वेश्मों मे घोड़ों को स्थापित कर उनका परिपालन [illegible]

आयतन-नि...

...पर आयतन का अर्थ सम्भवत छोटा मंदिर या छोटा राज प्रासाद है। इस प्रकार से राज प्रासाद के कर लेने पर अथवा भूमि के बलुप्त होने पर अनुजीवी यदि देव प्रासाद पर अपने प्रासादों को ... नृप-प्रासाद की परिधि मे निर्माण करता है तब उन के दिग्भाग, विन्यास, स्थान एवं मान का क्रमश सब लोगो की वृद्धि के लिए वर्णन किया जाता है ॥१–२॥

राजाओ के आयतन के श्रेष्ठ मध्यम और अधम तीन भेद होते है। इन तीनो आयतनो का क्रमश मान दश-शत चाप, अष्ट-शत चाप तथा षट-शत चाप होता है ॥३॥

इस प्रकार राजा के आयतन के चारो ओर चौकोर क्षेत्र ... बना कर वहा पर स्वामि वत्सल वीर अपने तीन प्रकार के आयतन बना सकते है। राजा के जो लोग सम्मत है और कुछ हितैषी लोग है अथवा जो कुल ... मे पैदा हुए हैं तो अनुजीवियो के आयतनो का क्रमश १२ अंश से हीन प्रमाण ... से निर्माण करना चाहिए ॥४–५॥

उसी के वाम भाग पर दुगुन उत्सेध एवं दुगुन अन्तर से दश अंश ... से हीन प्रमाण मे नैऋत्य दिशा मे राजा के प्रासादो को तथा राजा की सब पत्नियो ... के प्रासादो का विन्यास एवं विधान निवेश करें ॥६–७½॥

पश्चिम दिशा मे आठ भाग से हीन श्वसुरो के आयतन बनवाने चाहियें, पुन सौम्य दिशा मे वायव्य-कोण की ओर क्रमश ६ अंश से हीन मन्त्री सेनाध्यक्ष प्रतीहार और पुरोहित–इन सब के प्रासाद क्रमश बनाने चाहिए। इन्ही के पूर्व-भाग मे स्थित राज माता का निवेश करना चाहिए और वह ग्यारह अंश से हीन बनवाना चाहिए ॥७½–१०½॥

ईशान दिशा का अवलम्बन कर के ऐन्द्र पद की अवधि तक देवों के समान बहिनों मामा लोगो और कुमारो के क्रमश, आयतन बनाने चाहिए। आग्नेय कोण मे द्विज-मुख्यो के निवशन बनाना चाहियें। पुरोहित का प्रासाद राज-मन्दिर से

तृतीय पटल

शयनासन

शयनासन-लक्षण

अब शयनासन लक्षण कहूँगा जिस से शुभ और अशुभ का परिज्ञान हो जाय ॥१॥

शय्या मैत्र मुहूर्त मे चन्द्रमा के पुण्य नक्षत्र मे स्थित होने पर शुभ दिन देवताओं का सम्यक पूजन करके कर्म का आरम्भ समाचरित करे ॥२॥

शयनासन निर्माण मे चन्दन तिनिश अर्जुन तिन्दुक साल और साल शिरीष आमला धनु हरिद्र देवदारु स्यन्दन आक पद्मक श्रीपर्णी शिंशपा शिंशपा और भी जो शुभ वृक्ष है, वे प्रशस्त कहे गए है ॥३–४॥

गृह-वृक्ष मे जो अनिष्ट वृक्ष कहे गये है वे शयनासन मे भी निन्दित है। सोने से चादी से या हाथी दात से जड़ी हुई पीतल से बद्ध शय्याए शुभ कही गई है। विचक्षणो के द्वारा इनका निर्माण कराया जाना चाहिए ॥५–६–॥

जब शयनासन के लिए लकडी काटने के लिये प्रस्थान करे तो पहिले निमित्तो को देखे। दधि, अक्षत से भरा हुआ घडा रत्न अथवा पुष्प सुगन्धित द्रव्य वस्त्रादि मछली घोडो का जोडा मत्त हाथी और अन्य इसी प्रकार के शुभो को देख कर शुभ का आदेश करना चाहिए ॥६½–८॥

वितुष आठ यवो से क्रम का अगुल समुद्दिष्ट किया गया है। इस तरह १०८ अगुलो की ज्येष्ठ शय्या राजाओ के लिए कही गयी है ॥९॥

१०४ अगुलो की राजाओ की मध्यम शय्या कहलाती है और कनिष्ठ शय्या १०० अगुलो की राजाओ के लिए विजयावह बताई गई है ॥१०॥

राजा के लडके की ९० अगुल की मन्त्री की ८४ की सेनापति की ७८ की और पुरोहित की ७२ की शय्या विहित है ॥११॥

शय्याओ मे आयाम के आधे से सब विस्तार कहा गया है अथवा आठ भाग से अथवा छठे भाग से अधिक ॥१२॥

ब्राह्मणो की शय्या ७० अगुल दीर्घ होनी चाहिए और दो दो अगुलो से शेष हीन वर्णों की ॥१३॥

उत्तम शयनासन के उत्सेध का बाहुल्य तीन अगुल होना चाहिए तथा मध्य का ढाई और कनिष्ठ का दो ॥१४॥

ईशा-दण्ड का बाहुल्य उत्पल के बराबर होना चाहिये और उस का विस्तार उत्पल से आधा, चौथाई अथवा एक तिहाई होता है ।।१५।।

शय्या के आधे विस्तार से कुम्भ का विस्तार होता है और उस के पाया की ऊचाई मध्य से हीन दो चार छोड कर विहित है (मध्यहीनो द्विचतुरुज्झितौ) ।।१६।।

मध्य-विस्तार के आधे से मध्य मे बाहुल्य इष्ट है। कोई लोग तीन भाग से हीन, अथवा एक पाद से हीन उसे चाहते हैं ।।१७।।

नीचे के दीप से पावे की मोटाई उत्पल के समान होती है। मध्य मे एक चौथाई अथवा आधी क्रमश तल मे वृद्धि होती है ।।१८।।

अन्य विवरण भी शास्त्रानुकूल विहित है ।।१९।।

उत्सेध के समान दो अगुल मे अधिक विस्तार करना चाहिए और उसे पत्ता, कलिया पत्रपुटा और ग्रास से भूषित करना चाहिए ।।२०।।

चारो ओर शय्या के अग्र प्रदक्षिणाग्र करने चाहिए । ऊर्ध्वग्र सब पाद स्वामी की वृद्धि के लिये होते हैं ।।२१।।

एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने वाली अर्थात निर्मित शय्या श्रेष्ठ कहलाती है और मिश्र द्रव्य वाली प्रशस्त नही कही गई है। एक लकडी वाली प्रशसित होती है और दो लकडी वाली भयजनक होती है ।।२२।।

तीन लकडी से बनी होने पर नियत ही वध है। इस लिये ऐसी शय्या का वर्जन करना चाहिए ।।२३।।

अग्र भाग से युक्त मूल और बाए हाथ से युक्त निर्दिष्ट कहा गया है। अथवा मूल मूलविद्ध एव एकाग्र मे दो लकडिया होती है यह भी वर्ज्य है।।२४।।

मध्य मे अगर छेद हो तो मृत्यु कारक त्रिभाग मे व्याधिकारक और चतुर्भाग मे धनेश और सिर मे स्थित द्रव्य हानिकारक होता है ।।२५।।

निर्दोष अग वाले पर्यङ्क मे पाप-स्वप्न नही दिखाई पडते हैं। इसलिये गाठ और कोटर वाला पर्यङ्क नही बनाना चाहिए ।।२६।।

आसन और शयनीय गाठो एव कोटरो से वर्जित होने पर बहुपुत्र धन वाला और धर्म काम और अर्थ का साधक कहा गया है ।।२७।।

खाट पर आरोहण करने पर यदि वह चलायमान होती है अथवा कापती है तो क्रमश विदेशगमन अथवा कलह प्राप्त होते है ।।२८।।

इस लिये उसको स्थपति सुनिष्ठ, निर्दोष वर्णशालिनी दृढ, स्थिर

बनाये। ऐसा करने पर स्वामी की मनोरथ-वृद्धि होती है ॥२६॥

निष्कुट कोलहक क्रान्नयन, वत्सनाभक कालक और बधक ये सभी में छिद्र कहे गये है ॥३०॥

मध्य में घट के समान सुषिर तथा मकरा मुख वाला निष्कुट नाम से कहा जाता है। कोलाक्ष उडद के निकलने लायक छिद्र होता है ॥३१॥

आधे आधे पोर में दीर्घ विवृत्त और विषम छिद्र को महर्षियों ने क्रान्नयन कहा है ॥३२॥

पर्वमित भिन्न वामावर्त वत्सनाभक कहलाता है। कृष्ण कांति वाला कालक तथा विनिर्भिन्न बधक कहा गया है ॥३३॥

लकडी के वर्ण वाला छिद्र शुभकर नहीं होता है। निष्कुट में अर्थ का नाश कोलहक में कुल विद्रोह, क्रोड-नयन में शस्त्र से भय, वत्सनाभक में रोग से भय और कालक में बधक में—इन दोनों के कीट विद्ध होने पर शुभ नहीं होता ॥३४–३५॥

वह सब लकडी जिस में सब जगह बहुत अधिक गाठे होती है वह अनिष्ट-दायक कही गई है ॥३६½॥

आसन—शय्या के लिये कही गई लकडियों से निर्मित आसन बैठन में सुख-दायक प्रकल्पित किया गया है। उसका पुष्कर और सूदहस्त चार चार अगुल से पार्श्व होना चाहिये। विस्तार से आरम्भ कर जब तक नौ अगुल न हो जाए। पुष्कर के व्यास से उसका चौगुना दण्ड बनाना चाहिए ॥३८½-३८॥

पुष्कर के आधे से फनक और उसके समान भूलक-दण्ड और पुष्कर के विस्तार से चार अंश मोटा बनाना चाहिए ॥३९॥

पुष्कर का अतर्भाग खुदा हुआ गम्भीर इष्ट है। प्रशस्त सार नामक लकडी से इस का निर्माण करे ॥ ४० ॥

अब अन्य फर्नीचरों का वर्णन करता हूं।

कंघे—कंघा बडा ही चिकना बनाना चाहिए और उस चिकने तने वाली लकडी से बनाना चाहिए। इसकी लम्बाई ८ अगुल से १२ अगुल होनी चाहिए। इस का विस्तार लम्बाई से आधा अगुल रहित ४ भाग होता है ॥४१-४२॥

उसके मध्य में विस्तार के आठवें अश से बाहुल्य कहा गया है और उस के एक में स्थूल-विस्तार वाले दन्तक कहे गये हैं। दूसरे से आगे के तरफ घने सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दन्तकों का निर्माण करना चाहिये। मध्य में तीन भाग को छोड कर दोनों भागों में दन्तकों का निर्माण करना

चाहिये उनके तीन भाग के हर लेने पर यदि कुछ शेष न रहे तो उनको छोड़ देना चाहिये । हाथी के दांत अथवा 'आखोट (आखू) वृक्ष में निर्मित श्रेष्ठ कहलाते हैं । मध्यम अन्य शेष लकड़ियों में और जघन्य अर्थात् निकृष्ट असार- दारु में निर्मित होता है । खदिर आदि काष्ठों में मध्य भाग को अलंकृत करना चाहिए ।।४३-४६।।

यूका आदि के अपनयन के लिये तथा केश प्रसाधन के लिये यह कंघा काम में लाया जाता है ।।४७।।

पादुका —ये पादुकाओं की लम्बाई पाद से एक अंगुल से अधिक बनाना चाहिये । लम्बाई के पांच भाग करने पर सामने तीन भाग में पीछे दो भाग से इस प्रकार से इसका सग्रह-विधान है ।।४८।।

तीन अंगुलों की ऊंचाई और चरणों के अनुसार उस का विस्तार, अंगुल और अंगुष्ठ के दोनों मध्य भाग में रत्न आदि से अलंकृत करना चाहिए ।।४९।।

दांत सींग आदि से उसकी दोनों खूंटियों का निर्माण होना चाहिए ।।५०-१।।

गज दन्त, श्रीखंड, श्रीपर्णी मधूपर्णिका, ताल, क्षीरिणी, चिर अथवा जल की लकड़िया खड़ाऊं के लिये प्रशस्त कही गई हैं ।।५०१-५११।।

इस प्रकार से यहां पर शय्याओं का और आसनों के लक्षण बता दिये और उसके बाद दर्वी और कंकत और पादुकाओं का ठीक तरह से लक्षण बता दिया गया और शुभ और अशुभ सम्पूर्ण लक्षणों को जान कर विद्वान पूजा को प्राप्त होता है ।।५२।।

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

यन्त्र बीज

यन्त्र गुण

यन्त्र प्रकार

(अ) आमोद

(ब) सेवक

(स) योध एव द्वारपाल

(य) सग्राम

(र) विमान

(ल) धारा एव

(व) दोला

यन्त्र-विधान

अनन्य मध्य घूमते हुये सूर्य एवं चन्द्र मण्डल के चक्र से प्रशस्त इस जगत्रय-रूपी यन्त्र को सम्पूर्ण भूता (पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश) तथा बीजा (उपादान कारणो) को सम्प्रकल्पित कर जो सतत घुमाते है, वे कामदेव को जीतने वाले (भगवान शंकर) तुम लोगो की रक्षा करें ॥१॥

क्रम से प्राप्त अब यन्त्राध्याय का वर्णन करता हू। यह यन्त्र-विधान धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का एक ही कारण है ॥२॥

अपनी इच्छा से अपने मार्ग से प्रवृत्त महाभूतो (पृथ्वी आदि) का नियमन कर जिस में नयन होता है उस को यन्त्र कहा गया है। अथवा अपनी बुद्धि से अपनी स्वेच्छा से प्रवृत्त महाभूतो का जिस मे निर्माण-कार्य यमित होता है, उसको यन्त्र कहते हैं ॥३-४॥

उस यन्त्र के चार प्रकार के बीज कहे गये हैं—पृथ्वी जल, अग्नि और वायु। इन चारो का आश्रय होने की वजह से आकाश भी पाचवा बीज उपयुक्त होता है ॥५॥

सूत अर्थात पारे को जो लोग एक अलग बीज मानते है वे ठीक नही जानते। मूल प्रकृति से वास्तव मे पार्थिव बीज ही है। जल, तेज और वायु की उस मे क्रिया होती है। चूकि यह पार्थिव है अत यह पारा अलग बीज नही है। अथच इसके द्रव्यत्व होने के कारण जो अग्नि का उत्पादक होना परिकल्पित किया गया है तब इस का अग्नि से विरोध नही उत्पन्न होता और पृथ्वी गन्धवती होने के कारण और अग्नि से विरोध होने के कारण बलात इसमे पार्थिवत्व स्थापित हो ही जाता है ॥६-८॥

अथवा पाचो महाभूत एक दूसरे के स्वयं बीज होते है तथा और भी बीज होते है और इस प्रकार सांकर्य (मिश्रण) से इनके बहुत से भेद होते हैं ॥९॥

यन्त्र नाना प्रकार के होते हैं जैसे स्वयं वाहक (Automatic) सकृत्प्रेर्य (Propelling only once) अन्तरित-वाह्य तथा अदूर-वाह्य। पहला भेद स्वयं वाहक उत्तम कहा गया है और अन्य तीन निकृष्ट। उनमें दूरस्थ अलक्ष्य निकट स्थित की प्रशंसा की गई है। जो अनन्य उत्पन्न होता है और जो बहुतों का साधक [illegible] मनुष्यों के लिये विस्मय [illegible] [illegible] है।

विस्मयकारी इस बाह्य यन्त्र मे एक अपनी गति होती और दूसरी वाहक मे आश्रित होती है। अरघट्ट घटी म आश्रित कीडे म से दोनो दिखाई पडती है। इस प्रकार दो गतियो से वचित्र्य का कल्पन स्वयं कर और न दिखाई पडने वाली जो विचित्रता होती है, वह य त्रो म अधिक प्रशस्त मानी गई है ॥१०--१५½॥

और दूसरा भेद जो कहा गया है वह भीतर से चलाया जाता है। उसे मध्यम कहते है। दो तीन के योग से अथवा चारो के योग से प्रशाखि-भाव से भूतो की यह सख्या बहुत बढ जाती है। जो मनुष्य इन सब बातो को ठीक जानता है, वह स्त्रियो का, राजाओ का, विद्वानो का प्रिय होता है। और लाभ, ख्याति, पूजा, यश, मान क्या क्या नही प्राप्त करता है जो मनुष्य इस का तत्वत जानता है ॥१५½—१८½॥

यह विलासो का एक ही घर, आश्चय का परम पद, रति (काम क्रीडा) का आवास-भवन (निकेतन, घर) तथा आश्चय का एक ही स्थान कहा गया है ॥१८½—१९½॥

देवता आदिको की रूप एव चेष्टा दिखाने से वे लोग (देवता लोग) सन्तुष्ट होते ह और उनकी सन्तुष्टि को ही पूर्वाचार्यों द्वारा धम कहा गया है। राजाओ आदि क सन्तोष से धन प्राप्त होता है (इस प्रकार धम क बाद अर्थ-सिद्धि हुई)। अर्थ से ही काम (इच्छा, मनोरथ आदि) प्रतिष्ठित कहे गय हैं। इसका निर्माण धन साध्य है और मोक्ष भी इस से दुर्लभ नही ॥१९½—२१½॥

पार्थिव बीज — यह बीज पार्थिव बीजो से, जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थों स, वही तेज से उत्पन्न होने वालो से और वही वायु स उत्पन्न होने वाला मे विहित है। आप्य अर्थात जल सम्बन्धी बीज आप्य बीजो से उसी प्रकार अग्नि सम्बन्धी एव वायु सम्बन्धी बीजो स विहित है। बह्नि-बीज वायु से उत्पन्न होने वाले और पार्थिव एव वारुण बीजो से भी तथैव विहित है। मारुत बीज वायु, जल, पृथ्वी एव अग्नि सम्बन्धी बीजो से वैसे ही विहित है। वह्नि से उत्पन्न होने वालो द्वारा भी बीज होता है। वह पारा होता है। वह अनिल मे भी होता है। पार्थिवो का भी और आप्यो का भी जल जलीय बीज होता है। इस प्रकार सब भूतो के सम्पूर्ण बीजो का कीतन हुआ ॥२१½—२४½॥

कुडयकरण सूत्र भार गोलक-पीडन, लम्बन, लम्बकार और विविध चक्र लाहा, ताबा, तार (पीतल) रागा, सम्वित, प्रमदन काष्ठ, चम वस्त्र—य सब अपने बीजो म प्रयुक्त होते ह ॥२४½—२७½॥

ऊदक, वतर, यष्टि चक्र और भ्रमरक श्रृंगावली और बाण ये भी बीज और कहे गये है ॥२७½—२८½॥

जल के सम्पर्क से उत्पन्न ताप उत्तेजन, स्तोभ और क्षोभ इत्यादि पार्थिव बीज के अग्नि-बीज कहे गये हैं ॥२८३/२—२९१/२॥

धारा जलभार जल की भवर इत्यादि पृथ्वी से उत्पन्न जलज बीज कहे गये है ॥२९१/२—३०१/२॥

जसी ऊचाई जैसी अधिकता और जैसी नीरन्ध्रता (सटा हुआ) और अत्यन्त ऊर्ध्व-गामित्व (ऊचे जाना) ये लोह के अपने बीज हैं ॥३०१/२—३११/२॥

स्वाभाविक वायु गाढ-ग्राहकों के द्वारा प्रेरित होकर पत्थरों में पक्षियों म, गज-कणादिकों में भी निर्मित, चालित और गलाया हुआ ये वायु पार्थिव भूत मे बीज होता है। काष्ठ (लकडी) चमडा और लोहा जल मे उत्पन्न होने वाले बीज मे पार्थिव होना है ॥३११/२—३३१/२॥

दूसरा जल वह भी तिरछा ऊचा और नीचा जल-निर्मित यन्त्रो मे अपना बीज होता है। ताप आदि पहले कहे हुए वह्नि से उत्पन्न जल मे से उत्पन्न होने हैं ॥३३१/२—३४॥

स ग्रहीत, दिया हुआ और भरा हुआ और प्रतिनोदित अर्थात प्ररित वायु जल-यन्त्रो म बीज बनता है ॥३५॥

वह्नि से उत्पन्न होने वालो मे मिट्टी तावा सोना, लोहा आदि तदनुकूल बीज-विचक्षण विद्वान इस वास्तु-शास्त्र मे उसे पार्थिव बीज कहते हैं ॥३६॥

वह्नि मे वह्नि-बीज, जल मे जल और पहिले कहे हुये पत्थर आदि से वायु बीजता को प्राप्त होता है ॥३७॥

प्रत्येक अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी (Material) जनक प्रेरक और ग्राहक तथा सग्राहक रूप म वायु से उत्पन्न होने वालो के द्वारा पार्थिव बीज कहलाता है ॥३८॥

प्रेरण और अभिघात विवृत तथा भ्रमण रूप म वायु से पैदा होने वालो में जलज बीज सम्मत होता है ॥३९॥

ताप आदि से जो पवन मे उत्पन्न होने वालो के द्वारा जो होते है व पावक-सम्बन्धी बीज में सगृहीत किए गये ह ॥४०॥

प्रेरित, स ग्रहीत और जनित रूप में वायु अपना बीज होता है। इसी प्रकार स और भी कल्पना कर ले ॥४१॥

एक भूत अत्यधिक दूसरा हीन, तीसरा और भी अधिक हीन। इसके अतिरिक्त दूसरा और भी हीन। इस प्रकार विकल्प से इन बीजो के नाना भेद होते है। उनका पूर्ण रूप से कौन कह सकता॥ ४२-४३१/२॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अंश में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशात् सन्निवेश होता है ॥४२½—४४॥

यन्त्र-गुण —यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए।उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और सफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौश्लिष्ट्य, श्लक्ष्णता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहां पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो वहाँ पर आधिक्य अशैथिल्य और अगाढ़ता कहे गये है। अन्यथा सभी वाहक-यन्त्रों में सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व इष्ट-काल में अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्बणत्व, ताद्रूप्य मसृणत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण है ॥४५-४६½॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४८॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०½॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूं ॥५०½-५१½॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श। इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई है। ५१½-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद है—तिरछे ऊपर नीचे पीछे आगे अथवा दोनों बगलों में भी गमन, सरण और पात भेद से अनेक भेद हैं।५३।

जहां तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-ताडनों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते है। उच्छ्राय गुण तो जल का होता है। वही पर पार्थिव में भी कहा जाता है॥ ५४ ५५½॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना पटह वंश, वीणा, कांस्यताल (मंजीरा), तृमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते है ।५५½-५७½॥

नत्य में नाटकीय नत्य होता है उसके ताडव, लास्य राज मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होत है ॥५७½-५८½॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टाये या विरुद्ध चेष्टाये व भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती हैं ।५८½-५६½॥

पृथ्वी पर रहन वालो की आकाश म गति आकाश म चलने वालो की भूमि म गति मनुष्यो की विविध प्रकार की चेष्टाये तथा विविध मनोरथ य सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होने हैं ॥५६½-६०॥

जिस प्रकार से असुर का हार और जिस प्रकार से देवा के द्वारा समुद्र मन्थन हुआ और उनका, नसिंह भगवान द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया हाथियो का युद्ध और छोडना तथा पकडना और जो नाना प्रकार की चेष्टाय है और विविध प्रकार क धारा गह और विचित्र झूला की केलिया और विचित्र रति गह और विचित्र सेना तथा कुटिया एव सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बाते ह व सब यन्त्र के कल्पन से सिद्ध होती है ।६१-६४॥

शय्या-प्रसपण य त्र —पाच भूमिकाओ अर्थात खण्डो का निर्माण कर पहिले खड म स्थित शय्या प्रति पहर दूसर खण्डो म प्रसपण करती हुई पाचव खड म पहुँच जाती ह । इस प्रकार व चित्र विचित्र आश्चर्य य त्र स ठीक सिद्ध होत है ॥६५-६६½॥

नाडी-प्रबोधन-य त्र --शय्यापरिसपण य त्र कीर्तित हो चुका है अब पुनि-का नाडी-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते है । क्रमश तीन सौ आवत म स्थायी म यह दातो को घुमाती है । उम क मध्य मे बनायी हुई पुतली प्रति नाडी म जगाव और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल म दशन वह्नि के बाच से जल का निकलना अवस्तु स वस्तुत्व वस्तु से अन्य प्रकार की चीजे दिखाना एक सास म आकाश जाती है, एक सास में पृथ्वी आती है ॥६६½-६८॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र —अब गोल-भ्रमण यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहो की गति प्रदर्शन कराती है । क्षीर-सागर के मध्य मे एक सुन्दर नाग-नाग क फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची विहित गाता सूय ग्रहो का प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहो के दर्शन कराता है । लकडी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप मे दिखलाया गया मनुष्य नाली क द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोश तक जाता है ॥ ६८ ७१½ ॥

पतली के द्वारा दीपक मे तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिया नाल की गति से नाचती हुई धीरे २ दीप मे तेल डालती हैं। यन्त्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नही दिखाई पडता। जब तक पानी हो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढते है और मनुष्य का आश्चर्य करते है वे सब प्रमोद वितरण करते है। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गजेन्द्र अथवा घोडा अथवा वानर भी ताल से उछलते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१½-७४½॥

जिस मार्ग से खेत धन होता है उस से वह पानी जाता है और आता है फिर उसी के समान गड्ढे से पुष्करिणियो से पानी आता जाता है ॥७४½-७६½॥

फलक पर बीन बजती है, दौडती है, ताली बजाती है, और लडती है, नाचती है गाती है, वास आदि को बजाती है। वायु के बंद हो जाने पर फिर छोड़ देने पर यन्त्र की भंगिया की जो दिव्य और मानुष्य चेष्टाये होती है न ही केवल यही और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६½-७८½ ॥

यन्त्रो का निर्माण अज्ञानता-वश नही बल्कि छिपाने के लिए, नही कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यन्त्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नही होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नही बताई गयी। क्योकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कौतुक ही हो सकता है और वास्तव मे तो यन्त्रो के बीज अर्थात साधन कीर्तन करने से घटना आदि सभी कुछ कह दी गई है ॥७८½-८१ ॥

बुद्धिमान लोगो को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रो का कर्म होता है उस को समझ लेना चाहिए और जो यन्त्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो यन्त्र सुन्दर एवं सुखद है उनका उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (आचार्यो) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूँ। यन्त्रो के सम्बन्ध मे चार प्रकार का बीज उन लोगो ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग जल, अग्नि पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एवं साम्य से फिर ये यन्त्र अगणित कहे जाते है। ससार में यन्त्रो से बढ कर

और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चय-जनक वस्तु है। इस से बढ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-सदन या रति-केलि निकेतन भी दूसरा नहीं है। इस से बढ कर पुण्य अथवा ताप शमन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

सूत्र-धारा के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते है। भ्रान्ति जनक और विस्मय-कारक लकडी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक चक्र है। अतः ये यन्त्रो का पाचवा बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र विचित्र यन्त्रो का निर्माण करना जानता है जिस में यह समग्र सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश युक्त अथवा गुरु से प्राप्त शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणो से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पाचो बीजो को जानते हैं अथवा जो इन बीजो को पूर्ण रूप से योजना करते है उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनो पर फैलती है ॥८८॥

एक अगुल से मित (नापा गया) और अगुल के एक पाद से ऊचा दो फुट वाला, गोल आकृति वाला ऋजु वीच मे छेद वाला सदृढ सन्धि वाला और मजबूत नावे से निर्मित उसे सम्पादित करे। लकडी के बने हुए पंक्तियो में उसका उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालो के लिए आश्चर्य कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ दो खडो से सरन्ध्र (छिद्र-सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलो में प्रस्त कर बीच में मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या तल पर स्थित यह यन्त्र सचरण में अनग-क्रीडा के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोडता है जिससे मृग शिशुओ के समान नेत्र वाली नायिकाओ का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तो दयिताओ को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम क्रीडाये प्रौढि को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह मुरज वशी शख विपञ्ची काहला दक्क डिडिम घ वादय यन्त्र और आतोद्य-यन्त्र Instruments by beating) बडा ही मधुर और चित्र रूढ और उन्मुक्त वायु से भरे हुवे ध्वनि करने मे समर्थ होते है ॥९४॥

अम्बरचारि-विमान-यन्त्र —अब अम्बरचारि-विमान यन्त्र का वर्णन करते हैं। छोटी लकड़ी से बनाया गया महा विहग बना कर और उसके शरीर को दृढ़ और सुश्लिष्ट अर्थात खूब सटा और जुड़ा हुआ बना कर उस के अन्दर पारा रक्खे और उस के नीचे अग्नि के स्थान को अग्नि से पूर्ण करे और उसमें बैठा हुआ पुरुष उसके दोनों पक्षों के सञ्चालन से प्रोज्झित वायु के द्वारा भीतर रक्खे हुए इस पारद की शक्ति से आकाश में आश्चर्य करता हुआ दूर तक चला जाता है। इसी प्रकार से यह बड़ा दारु विमान सुर-मन्दिर के समान चलता है और विधि पूर्वक इसके भीतर चार पारे से भरे हुए दृढ़ कुम्भों को रक्खे। लोहे के कपाल में रक्खी हुई मन्द वह्नि के द्वारा तपे हुए (तप्त) कुम्भों से उत्पन्न गुण से सम्पन्न और गर्जन करता हुआ पारद की शक्ति से आकाश का अलंकार बन जाता है अर्थात आकाश में उड़ जाता है ॥९५—९८॥

सिंहनाद यन्त्र —अब लोहे के यन्त्र को खूब ठीक तरह से कसकर और उसके अन्दर पारद को रखकर और फिर वह ऊँचे प्रदेश में रक्खा हुआ सिंहनाद मुरज (वाद्य विशेष) की ध्वनि करता है। इस नर-सिंह की महिमा विलक्षण है। इसके सामने मद और जल को छोड़ने वाले हाथियों की घटायें भी इसके गम्भीर घोष को बार-बार सुन कर अंकुश की भी परवाह न कर शीघ्र भागने लगते हैं ॥९९ १००॥

वामादि परिजन-यन्त्र —आख ग्रीवा, तल-हस्त प्रकोष्ठ (भुजा का मणि बन्धन) बाहु उरु हस्त की अंगुलियां आदि अखिल शरीर छिद्रों सहित बना कर और उसकी सन्धियों को लण्टन करना करे, कीलों से खूब श्लिष्ट कर लकड़ी से बना कर चमड़े से गुप्त कर युवक अथवा युवती के रूप का अति रमणीय रूप बना कर छिद्रगत नाड़ियों और सूतों के द्वारा प्रति अंग से विधि पूर्वक निवेश करे तो वह गर्दन का चलाना हाथ का फैलाना अथवा समेटना यन्त्र ही करता है और सामने की मानो हाथ मिलाना पान देना जल से सींचना, प्रणाम आदि करना, शीशा देखना वीणा आदि वाद्य बजाना—यह सब यन्त्र ही करता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों के चक्र-वश से अपनी बुद्धि से विधि-पूर्वक जृम्भित होने पर ऐसी प्रकार के अन्य विस्मयावह काम करता है ॥१०१—१०५॥

द्वारपाल-यन्त्र —दारु से मनुष्य की प्रतिमा बना कर और उसको लेकर द्वार के ऊपर रख कर, उस के हाथ में दण्डा दे देता द्वार में प्रवेश करने वाले को रास्ता रोकता है ॥१०६॥

याध-यन्त्र – खड्ग हस्त, मुदगर-हस्त अथवा कुन्त-हस्त (भाला लिये) वह दारु-वनप्त पुरुष रात्रि मे प्रवेश करते हुए चारो को सम्वृत मुख होकर बल-पूर्वक मारता है ॥१०७॥

सग्राम यन्त्र –जो चाप आदि तोप आदि उष्ट्र-ग्रीवा आदि यन्त्र (तमच) किले की रक्षा के लिए और राजाओ क सेन के निए जो नीडा आदि यन्त्र है वे सब गुणो क योग से सम्पादित हो जात हैं ॥१०८॥

वारि-यन्त्र —अब क्रम प्राप्त वारि-यन्त्र को कहता हू। क्रीडा के लिए और काय-सिद्धि क लिए उसकी चार प्रकार की गति होती है ॥१०९॥

ऊचे पर रक्खी हुइ द्रोणी (कल) प्रदश से नीचे की तरफ जल जाता हैं उस को पात यन्त्र कहते हैं और वह बगीचे क लिए होता हैं ॥११०॥

दूसरा जल यन्त्र उच्छाय-समपात नामक कहा गया हैं जहा पर ऊँचे से कल से पानी जलाधार गुण स नीचे की ओर छोडना है ॥१११॥

तीसरा वारि यन्त्र पात समुच्छ्राय के नाम स पुकारा जाता है जहा पर जल गिर कर ऊचाई म टेढे टेढे जाकर छेद वाल खम्भो क योग स ऊचे जाता है ॥११२॥

अब इस क बाद समुच्छ्राय नामक यन्त्र वह होता है जहा पर जल गिर कर ऊचाइ म उतर कर टेढे टेढे ऊच-ऊच छिद्रो दारु-खम्भो के योग से गिरता है ॥११३॥

उच्छ्राय-सज्ञा वाला पाचवा वारि यन्त्र वह कहलाता है जहा पर वापी मे अथवा कुवे म विधान-पूर्वक दीर्घिका आदि जो बनाई जाती है तो ऊचे पानी लाया जाता है ॥११४॥

दारुमय-हस्ति —लकडी का हाथी बना कर जो पात्र म रक्खा हुआ पानी पीता है उसका माहात्म्य इस उच्छ्राय-नामक यन्त्र के समान कहा गया है ॥११५॥

जलसुरग-देश मे लाया जाता है नीच भाग मे दूर लाया हुआ वह अद्भुत जल-स्थान-समुच्छ्राय करता है ॥११६॥

पञ्च-धारा गृह —अब धारा-गृह का वर्णन करते है। ये पाच है—पहिला धारा गृह दूसरा प्रवर्षण, तीसरा प्रणाल चौथा जलमग्न तथा पाचवा नन्द्यावर्त। प्राकृत जनो अर्थात साधारण जनता के लिए नहीं बनाने चाहियें। ये केवल राजाओ के लिये ही बनाने चाहियें। ये उन्ही के योग्य है। य मगना के लिय सदा [illegible] तुष्टि और पुष्टि [illegible] होते है ॥११७-११८॥

धारा-गृह—किसी जलाशय के निकट सुन्दर स्थान को चुन कर यन्त्र की ऊंचाई से दुगुनी अथवा तिगुनी नली बनावे। जल के निर्वाहक-क्षम यह नली अन्दर से बहुत चिकनी और बाहर से घनी होनी चाहिए और उस मे पानी भर कर शुभ मुहूर्त मे धारा-गृह का निर्माण करना चाहिए। सब औषधियो से युक्त और सोने से निर्मित पूर्ण कुम्भो से युक्त सुन्दर २ विचित्र २ गन्ध और मालाओ से युक्त वेद मन्त्रो के उच्चारण से निनादित रत्न निर्मित अथवा स्वर्ण-निर्मित अथवा रजत निर्मित अथवा कदाचित शीशम काष्ठ से निर्मित अथवा चन्दन से निर्मित अथवा सालक प्रधान प्रशस्त वृक्षो से निर्मित, सौ, बत्तिस अथवा सोलह संख्या वाले खम्भो से युक्त उस धारा गृह का निर्माण करे। अथवा २४ खम्भो से अथवा १२ खम्भो से अथवा अतिरमणीय चार खम्भो से ही भूषित उस धारा गृह का निर्माण करना चाहिए। धारा-गृह अति विचित्र ग्राग्रीवा वाली शालाओ और विविध जालो से विभूषित वट्टियो से खचित और कपोतालिया अर्थात कबूतर के अड्डो से सुन्दर बनाना चाहिए। वहा पर सुन्दर २ शालभञ्जिकायें कठपुतलिया दिखलाई पड रही हो। अनेक प्रकार के यन्त्र पक्षियो से शोभा मिल रही हो तथा वानरो के जोडो से अनेक प्रकार जम्भक-समूहो से विद्याधर, सिंह, भुजङ्ग, किन्नर और चारणो से रमणीय परम प्रवीण मयूरो से नाचते हुए सुन्दर प्रदेश चित्र विचित्र पारिजात-पादपो से शोभित और चित्र-विचित्र लताओ वल्लिया एव गुल्मो से सच्छन्न, कोकिल-भ्रमरावली हंसमाल (मराली) से मनोहर ऐसा चित्र विचित्र चित्रित धारा गृह बनावे ॥११९-१२८॥

सुश्लिष्ट और निविष्ट नलो के सम्पूर्ण स्रोत बहने वाले और मध्य मे छद सहित नालिका से युक्त नाना प्रकार के रूपो से रमणीय होना चाहिए। सुश्लिष्ट नालिका के अग्र प्रदेश मे खम्भो की तुला वाली दीवाल मे आश्रित प्रदेश मे वज्रलेपादि (सीमेंट आदि) खूब दृढ विलेपन करे। वज्रलेप बनाने का प्रकार यह है लाक्षारस (लाख), अर्जुन का रस और पत्थर मेष के सीगो का चूर्ण इन सबको मिलाकर सरसी और करजा के तेल से गाढा करे। संधियो की दृढता सम्पादन के लिए यह लेप दो तीन बार देना चाहिए परन्तु कदाचित अधिक मजबूती के लिए दो बार लेप करे और उस पर सन की वल्कल से लम्बालक (लभड़ा) और सिरवा के तलो से प्रलेप करे। उच्छ्राय यन्त्र से चारो ओर घूमते हुए जल के द्वारा चित्र विचित्र जल-पात करता हुआ वह यन्त्र स्थपति राजा को दिखावे ॥१२९-१३३॥

इस मे हाथियो को जलक्रीडा करते हुए एक दूसरे की सूड से छोड़े गये सीकरो (जलकणो) से बन्द हो गए है नयन जिन के ऐसे जोडो को दिखाना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रेमास्पद यन्त्र मे वर्षा का अनुकरण करने वाला हाथी दूसरे हाथी को देख कर आख गण्ड-स्थल, मेहन और हाथो से मद के समान वर्षानुकृत जल को छोडता हुआ दिखलाना चाहिए। १३५।

वहा पर कोई ऐसी स्त्री बनावे जो अपने दोनो स्तनो से दो जल धाराय निकाल रही हो और वही सजल बिन्दुओ को आनन्दाश्रु-कणो के समान अपनी पलको से निकाल रही हो ॥१३६॥

कोई स्त्री ऐसी दिखाई जाय जो अपनी नाभि रूपी नदी से धारा को निकाल रही हो और कोई अगुलियो की नखाग्रो के समान धाराओ से सिंचन कर रही हो। इस प्रकार के आश्चर्य-कारक स्वभाव चेष्टायें और बहुत से रमणीय क्षाभो का निर्माण कर के स्थपति राजा के लिए मनोरंजन करे। ॥१३७-१३८॥

उसके मध्य मे निर्मल स्वर्ण और मणियो से निर्मित सिंहासन बनाना चाहिए और उस पर नरपति अवनिपति श्रीपति देव (अर्थात राजा जी) बैठें ॥१३९॥

कभी २ इस मे उसको स्नान करावे और मंगल-गीतो से अपने आनन्द को बढाता हुआ वादित्र और नाट्य निपुणो (गाने वालो बजाने वालो नकल करने वालो) से सेवित वह राजा साक्षात इन्द्र के समान आनन्द का भोग करे ॥१४०॥

जो राजा भीषण गर्मी मे स्फुट जल-धारा वाले इस धारा गृह मे सुख पूर्वक बैठता है और विविध-प्रकार की जल-कारीगरी को देखता है वह मर्त्य नही वरन पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात सुरपति इन्द्र है ॥१४१॥

प्रवर्षण —पहिले की तरह मेघो के आठ कुलो (पुष्करावर्तकादि) से युक्त दूसरा जल घर बनावे। बरसती हुई धाराओ के निकरो (समूहो) के कारण इसका नाम प्रवर्षण पड़ा है ॥१४२॥

इस मे मेघो के प्रतिकूल मे दिव्य अलंकार धारण करने वाले सुदृढ एवं सुन्दर तीन चार अथवा सात विधि-पूर्वक पुरुषो का निर्माण करे ॥१४३॥

फिर चौथे समाच्छाय यन्त्र से उन टेढी नाली वाले उन पुरुषो को निर्मल जलो से पूरित करे ॥१४४॥

पुरुषा के सम्पूर्ण सलिल-प्रवेश वाले छद्रो को बद कर तदनंतर उनका जल निकालने वाले अगो को खोल दे ।।१४५।।

पुरुष-द्वार प्रतिरोध और मोचना से टेढे नल से निकले हुए पानी आश्चर्य-कारक पात में आश्चर्य कारक स्वेच्छापूर्वक जल को छोडते हैं। ।।१४६।।

इस प्रकार इन जल धारण करने वाले सब पुरुषो से अथवा दो से अथवा तीन से महान् आश्चर्य विधायक स्वच्छापूर्वक प्रवर्षण करावे ।।१४७।।

यह नाना आकार वाला रति-पति कामदेव का प्रथम कुल भवन विचित्र पदार्थों का निवास और मेघा का एक ही अनुकरण ग्रीष्म मे जल के पात मे सूर्य के ताप का शमन करने वाला किन लोगो के नयनो का आनन्द दायक नहीं होता (अर्थात सभी के लिए होता है) ।।१४८।।

प्रणाल —अब प्रणाल नामक जल घर का वर्णन किया जाता है। एक, चार अथवा आठ अथवा बारह अथवा सोलह खभो से दुतल्ला मनोहर घर बनावे। सब दीवालो से युक्त चौकोर चार भद्रा से युक्त ईली-तोरण-युक्त पुष्पकाकार इसे बनाना चाहिये। उसके ऊपर बीच मे एक सुदढ प्रागण-वापी बनावे और उसके बीच मे कमलो से सुशोभित कर्णिका का निर्माण करे और उसके चारो कोना पर वापी के मध्य भाग मे खिले हुए कमल पर लगाते हुए आखो वाली, अलकार धारण किये और विभिन्न श्रृंगार किये रमणीय दारू-दारिकाओ का निर्माण करना चाहिये ।।१४९-१५२।।

पूर्वोक्त यन्त्र के क्रम से पद्मासन पर राजा के बैठने पर फिर घडो से निर्मल जल से आँगन की वापी को भरे और फिर उस वापी को भर कर फिर उस जल को उसके निकट पट्ट गर्भों में ले जाया जाय। पुन उस मे सुगन्धि की योजना करें। मुख के कपडे से समुत्कीर्ण रूप वाले चित्र विचित्र नासिका, मुख, कान, नेत्र, आदि अखिल अगो से जल छोडा जाता है। प्रणाल-नाम का यह अद्भुत धारा-भवन जिस राजा के प्रागण प्रदेश मे स्थित होता है अथवा जो स्थपति अपनी चतुर बुद्धि से इसका निर्माण करता है, वे दोनो ही (राजा और राज) ससार मे बडे यशस्वी होते है।।१५३-१५६।

जलमग्न — चौकोर, बहुत गहरी, सुदढ, मनोरम वापी बनावे फिर उसका घर जमीन के नीचे, सन्धियो को लिप्त करके, निर्माण करे। सुरंग मे निवर्तित द्वार से सुन्दर पुरुषा के द्वारा ऊपर जल लाया जावे ।।१५७-१५८।।

चित्राध्याय म वर्णित क्रम से फिर चित्र से अलकृत इसका मध्य भाग वरुण वास के समान बनावे ।।१५६।।

उस कपड़े के नाल से उत्पन्न उन नल वाले ऊपर छिड़के हुए कमलो मे सछिद्र कर्णिका-स्थित सूर्य किरणो के द्वारा विकास कराया जाय ।।१६० ।

निमल कमलो तक गिरते हुए जल से उसे पूरा किया जाय और इसी विधि से ठीक तरह से सुन्दर भवन का निर्माण करके नाना सजावट स युक्त आगन का तोरण–द्वार बनावे और चारो दिशाओ मे लम्बी चौडी शालाये बना कर शोभा करे । बनावटी मछली, मगर और, जल पक्षियो से युक्त और कमलो से युक्त उस वापी को इस तरह से बनावे कि मानो य सब जीव जन्तु एव पक्षी सच्चे ही हो ।।१६१—१६३।।

सामन्त लोग प्रधान पुरुष राजा की आज्ञा प्राप्त कर आश्रय लेने वाले दूसरे रास्तो से आये हुए दूत यहा पर एकान्त म बैठे ।१६४।।

तदनन्तर पूर्वोक्त मार्ग से निरूपित विभिन्न रूपो की जल क्रीडा को देख कर मुदित नृपति पयकारोहण करे ।।१६५।।

वहा पर जल भवन म वारागनाओ से चारो तरफ घिरे हुए राजा का पाताल-गृह मे जिस प्रकार भुजगेश्वर शेष-नाग का प्रमोद होता है उसी के समान उसका अत्यधिक आनन्द वाला प्रमोद होता है ।।१६६।।

नन्द्यावर्त्त –पूर्वोक्त वापिका मे मध्य भाग मे चार खम्भो से निर्मित मोती-मूगो से युक्त पुष्प और लटभ का निर्माण करे । वापी के चारो ओर खूब निकलते हुए पानी से सुदृढ पुष्पक को भर कर अन्दर स्वस्तिक दीवालो से चारो ओर शोभा करावे । पूर्वोक्त जल-योग से कान तक पानी भरा कर जल क्रीडा के लिये उत्कण्ठित राजा पुष्पक पर जाए और फिर वहा पर विदूषको और वार विलासिनियो के साथ उस दीवाल के अन्दर होकर जल मे डूबने और निकलने की क्रीडा करे ।।१६७—१७०।।

एक जगह डूबते हुए, दूसरी जगह पानी से मार कर नष्ट होते हुए केलि करने वाले सहायको के साथ राजा खूब खेलता है और आनन्द लेता है ।।१७१।।

वापी-तल मे स्थित, लज्जा से झुके हुए कर-पल्लव से अपने स्तन-भाग को ढके हुए शरीर से गाढावसक्त वस्त्र वाली जलरोध को छोडने वाली ऐसी प्रणयिनी को जो आदमी देखता है वह धन्य है ।।१७२।।

दोला-यन्त्र —जो बाचवा बीज-सयागात्मक यन्त्र-भ्रमणक-कर्म कीर्तित किया गया है अब दारु-निर्मित उस रथ-दोला आदि के विधान को ठीक तरह से कहना हूं। उनमे वसन्त मदन-निवास वसन्त तिलक, विभ्रमक तथा त्रिपुर नाम वाले ये पाच झूले कहे गए हैं ॥१७३—१७४॥

वसन्त —ऋजु मुदढ एव सूत्र वाले चार खम्भा को खचित करे भूमि वश उसके अवकाश बराबर हो और सुश्लिष्ट तथा पीठगत हो। प्रासाद की उक्त दिशा से अर्थात प्रकार से आठ हस्तो से उस का दैर्घ्य सम्पादन करे और उसके भाग से गहरा रमणीय भूमि गह बनावे ॥१७५—१७६॥

उस के गर्भ मे भ्रम-सहित पीठ सहित और छादक तुलाओ से ग्रस्त लोहे का खम्भा स्थापित करे ॥१७७॥

पीठ के ऊपर खूब मजबूत विभक्त कुम्भिका स्थापित कर, फिर उस को धनुष की ऊचाई से आठ भद्रो से घेरे। इसके उपरान्त इसके ऊर्ध्व भाग मे ऋजु स्वेच्छा पूवक भूमिका की ऊचाई बनावे और वेष्टन के ऊपर पट्टयुत स्तम्भ-शीष रक्खे। हीर-ग्रहण तक मदला गज-शीर्षिका बनानी चाहिए। वह खूब मजबत हो, प्रयत्न से बनाई गई हो और मनोज्ञ हो ॥१७८—१८०॥

पट्ट के ऊपर असीम क्षत्र के मान (प्रमाण) से सघिया (चतुष्किका) बनावे और उसके ऊपर मजबूत तल-छ ध निर्माण करे ॥१८१॥

तदुपरान्त मेत्र मे युक्ति से उठाए हुए सुन्दर बारह खम्भो से रूपवती-कोणस्थिति से अधिक पहली भूमि बनावे ॥१८२॥

उस के मध्य मे गभ-स्तम्भ-प्रतिष्ठित भ्रम की रचना करे और पश्चात् मेत्र मान से उसको वस्त्रो से ढक दे ॥१८३॥

रथिका के शिखा के अग्र-भागों म फलकावरण के ऊपर स्तम्भ के मध्य पाच भ्रम-चक्रो का न्यास करे ॥१८४॥

इस के ऊपर पुष्पक की आकृति की सुशोभित भूमि का निर्माण करे, उस आधार मध्य का स्तम्भ होता है और उस के सिर पर बनाय हुए कलश सुशोभित होते ह। खम्भ के नीचे घुमाए जाने पर अध भूमिका उसमें खूब घूमती है। वह मध्यभमि [illegible] से ऊपर ऊपर रथिका-सभर से युक्त हो कर घूमती है ॥१८५—१८६॥

इस प्रकार वसन्त [illegible] रथिका-भ्रम नामक झूले मे बैठी हुई वार-विलासिनियो के परिभ्रमण से [illegible] पम अधिक विभ्रम वाला नयनोत्सव जा

स्वर्ग मे कहा गया है, वैसा ही वसन्त के समय समल कीनित ना यह धाम राजा के लिये होता है । १८७ ।

मदन निवास —इसके बाद बिना नीव के एक स्थिर स्तम्भ का आरोपण कर फिर इसके ऊपर चार हाथ ऊची भूमिका बनावे ॥१८८॥

मध्य मे भ्रमरक-युक्त बनावे और शेष पहले के समान यहा पर भी निवेश करे और स्तम्भ मे पप्पक को भी कलश से ऊचा और शिथिल न्यास कर। उस के ऊपर चार आसनो मे युक्त ग्रीवा का निर्माण कर और फिर वहा पर बडे बडे दो घण्टा स्तम्भा का निर्माण करे ॥१८९–१९०॥

इस प्रकार पुष्पक भूमिकाओ के भीतर बैठा हुआ गुप्त जन नव तक भ्रामक यन्त्र-चक्र-समूह का क्रमण चलाव जब तक रथिका पर बैठी हुयी मगनयनिया पुष्पक म सब की सब काम-वासना के कौतूहल से अर्पित आगो वाली घुमाई जान लग ॥१९१॥

वसन्त-तिलक —इस के बाद अब चार कानो पर ऋजु एव सुदृढ चार खम्भो को निवशित करे और भूमि के अनुसार बराबर अतर पर पृष्ठ-भूमि पर उ ह स्थापित करे । उनके ऊपर तलान्तर सयुक्त भूमिका बनानी चाहिए और प्रत्येक दिशा मे स्थापित पहले की तरह वहा पर चार रथिकायें बनाई जाती हैं। उस क ऊपर सु लिप्ट दार-सघानित अध-भूमि का निर्माण करना चाहिए। उस का मध्य भाग भ्रमरक-युक्त और मत्तवारण-युक्त एव रूपको युक्त होना चाहिए ॥१९२–१९४॥

परस्पर यन्त्र के परिवट्टन मे चलायमान अखिल चक्रा की रथिकाओ के भ्रमण से सुन्दर इस वसन्त तिलक झूले को देख कर सुर मन्दिरो क भषायमान कौन विस्मय को प्राप्त नही होता ॥१९५॥

विभ्रमक –पहली रगभूमि बना कर चौकोर चार भद्रा वाली रूपवती भूमि का निर्माण करे ॥१९६॥

इस के भद्रो से प्रत्येक कान पर भ्रमर-सयुत होते है और भूमि के ऊपर आठ आसन वाले भ्रमरा का निर्माण करे ॥१९७॥

बाहर भीतर और बहुत सी चित्र-विचित्र शुद्ध रेखाओ का खचित करे। फिर पीठो म मध्य भाग म स्थित दूसरी भूमिकाओ का निर्माण करे ॥१९८॥

पीठ के मध्य भाग म स्थित परस्पर निकट योजित चक्रा से सब भ्रमर

शीघ्रता से घूमने लगते हैं। स्वर्ग में चढ़ने के समान झूले पर बैठा हुआ वह राजा वारि-विलासिनियों के द्वारा सम्भृत चित्र-विचित्र विभ्रम से जोहप को प्राप्त करता है तथा उसकी कीर्ति तीनों लोकों में समुल्लसित होती हुई समाती नहीं है ॥१९९—२००॥

त्रिपुर —अब क्षेत्र को चौकोर बना कर आठ अंगों से विभाजित कर शेष कोणों के द्वारा चौकोर भद्र का कल्पन करे ॥२०१॥

उस से दुगुनी भूमिकाओं की भाग-संख्या से इसका ऊर्ध्व-भाग निर्मित करे। वहां पर भूमिका की ऊंचाई चार अंश की हो। २०२।

वहां पर आठ, छै चार भागों से वर्जित ऊपर २ भूमिकायें क्रमशः होती हैं और उन में से तीन अंध-संयुत होती है। शेषांश से उच्छ्राय-युक्ता चतुरस्रायता घण्टा बनानी चाहिए। तीसरी और चौथी भूमि का निर्माण ६ और ४ भागों के विस्तार से करना चाहिए। प्रथम भूमि में रंग, दूसरी भूमि में कोनों में रथिकायें और वहां पर भद्रों की आकृति से युक्त रमणीय दोला भी हो ॥ २०३—२०५ ॥

तीसरी भूमि में भद्रों में अतिरमणीय रथिकायें बनानी चाहिए। कोनों में आसन और अन्य अंध-वास्तुक में भी भ्रम का न्यास करे ॥२०६॥

चार आसन वाले दारु-रथिक में आठ आसन वाला भ्रम होता है। आसन से यहां पर अभिप्राय है कि वह युवती का एक स्थान होवे। २०७।

जो सब आसन भ्रमण सम्मुख घूमते हैं वे सारे के सारे आसन एक प्रकार से भ्रम ही हैं ॥२०८॥

यष्टि के ऊर्ध्व भाग में भ्रम के नीचे एक चक्र को योजित करे और उसी प्रकार यहां पर आसनों में लघु चक्रों का नियोजन करे ॥२०९॥

लघु चक्राकार वृत्त में (चौकोर वाले में) कीला को लगाना चाहिए और वह समान अन्तर पर सभी छोटे चक्र के वृत्त दिखाई पड़ने चाहिए ॥२१०॥

रथिका का ऊपर का चक्र भ्रम-चक्र से विनियोजित करे और इस में दो चक्रों से युक्त चार यष्टियां ढढी २ लगावे ॥२११॥

रथिका-यष्टि-भ्रम में संलग्न यन्त्रों को द्वितीय भूमि के ऊपर और तृतीय भूमि के अन्तर में करना चाहिए ॥२१२॥

आसन की आधार-यष्टियों के नीचे समान अन्तर पर रथिका-चक्रों में योजित चार परिवर्तकों का निर्माण करे ॥२१ ॥

उसी प्रकार द्वितीय भूमि दोला-गर्भ मे दो समानान्तर यष्टियो का निर्माण करना चाहिए जिस मे एक २ पहिया लगा हो और इनका दक्षिण और उत्तर के चक्रो मे न्यास करे। इसी प्रकार नीचे भू-कोण तक जाने वाली रथिका-समूह के अग्र चक्र मे लगी हुई दो दो पहियो वाली चार यष्टियो का दूसरी दिशाओ के चक्रो में न्यास करे। प्रान्त के दोनो चक्रो में कोनो की रथिका-चक्र मे योजित दोला के गर्भ में जाने वाली दूसरी दो यष्टिया तिरछी बनानी चाहिए। पूर्व-भद्र में सोपानो से शोभित द्वार-निर्माण करे और नीचे गर्भ के पश्चिम भाग में देवता-दोला का निवेश करे ॥२१४–२१७॥

इच्छानुसार छोडा जाने वाला चक्र भ्रम विधान पूर्वक ठीक तरह से जानकर शीघ्र चलने वाला अथवा मन्द चलने वाला प्रयोजित करे ॥२१८॥

सक्षेप से जहा तक हो सका हमने इस प्रकार से भ्रम-मार्ग कीर्तित किया। दूसरो में उसी तरह भ्रम-हेतु के लिए ठीक तरह से करना चाहिए ॥२१६॥

दृढ और चिकने स्तम्भ-आदि द्रव्यो के विन्यासो मे कल्पित सुश्लिष्ट सन्धि-बन्ध वाला बडे मुख्य स्तम्भो से धारण किया गया, तिलको से परिवारित और चारो तरफ सिंहकर्णों से युक्त अपने चित्रो से विचित्र रूप वाला त्रिपुर नाम का दोला ठीक तरह से बनावे ॥२२०-२२१॥

बुद्धि से निर्मित और पूर्व यन्त्रो से युक्त जो मनुष्य इस यन्त्राध्याय को ठीक तरह से जानता है, वह वाञ्छित मनोरथो को ठीक तरह से प्राप्त करता है और प्रतिदिन राजाओ के द्वारा पूजित होता है ॥२२२॥

जिस राजा के भुज-स्तम्भो से प्रतिबद्ध (रोकी गयी) वृत्ति वाला यह सम्पूर्ण द्वादश राज-मण्डल इच्छा से घूमता है वह श्रीमान भुवन मे एक ही राम नाम के राजा ने इस यन्त्राध्याय को अपनी बुद्धि से रचित यन्त्र प्रपचो के साथ बनाया है ॥२२३॥

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

अथ चित्रोद्देश-लक्षण

अब इसके बाद हम लोग चित्र-कर्म का प्रपच करते है क्योकि चित्र ही सब शिल्पो का प्रधान अग तथा लोक प्रिय-कर्म है ।।१।।

चित्रोद्देश —पट्ट पर अथवा पट पर अथवा कुड्य (दीवाल) पर चित्र-कर्म का जैसा सम्भव है और जिस प्रकार की वर्तिया, कृत बध और लेखा-मान होते है वर्ण का जैसा व्यतिक्रम जैसा वर्तना—क्रम मान उन्मान की विधि तथा नव-स्थान-विधि, हस्ता का विन्यास—उन सबका प्रतिपादन किया जाता है। स्वर्गियो का देवादिको का मनुष्यो का तथा दिव्य मानुष ज मा व्यक्तियो का गण, राक्षस, किन्नर कुब्ज, वामन एव स्त्रियो का विकल्प आकृति-मान और रूप सस्थान वृक्ष गुल्म, लता वल्ली, वीरध पाप कर्मा व्यक्ति, शूर दुर्विदग्ध धनी राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रजाति क्रूर-कर्मा मानी रगोपजीवी-इन सब का वर्णन किया जाता है। सतियो का, राज-पत्नियो का रूप, लक्षण वेष-भूषा (नेपथ्य) दासियो सन्यासिनियो राडो भिक्षुणियो आदि अथच हाथियो घोडो मकर, व्याल सिह तथा द्विजो का भी वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार रात दिन का विभाग और ऋतुओ का भी लक्षण तथा याज्यायोज्य-व्यवस्था का भी प्रतिपादन आवश्यक है। देवो का प्रविभाग और रेखाओ का भी लक्षण, पाच भूतो का लक्षण और उनका आरम्भ भी बताया जायेगा। वृक आदि हिसक जन्तुओ, पक्षियो और सब जल-वासियो के चित्र न्यास-विधान का अब लक्षण कहता हू ।।२—१२।।

चित्राङ्ग —जिसे चित्र-कर्म मे वर्ना जाता है उसके सब अगो का सविस्तार वर्णन किया जाता है। पहला अग वर्तिका दूसरा भूमि-बन्धन, तीसरा लेख्य, चौथा रेखा-कर्म, पाचवा वर्ण-कर्म, छठा वर्तना-क्रम, सातवा लेखन और आठवा रसावर्तन ।।१३—१५।।

चित्र कर्म का यह सग्रह जो क्रमश सूत्रित करता है वह कभी मोह को नही प्राप्त होता है और वह कुशल चित्रकार होता है ।।१६।।

अथ भूमिबन्धन-लक्षण

अब वर्तिका का लक्षण और भूमि-बन्धन का लक्षण वर्णन किया जाता है ॥१॥

गुल्मों के भीतर में शुभ क्षेत्र में पद्मिनी में, नदी के तट पर, पर्वतों के कक्षों में, वापिका और वनों के अन्तर में और वृक्षों के मूलों में जहां पर भौम लवण पिण्ड हों इन क्षेत्रों में जो मृत्तिका स्थिर, सुश्लिष्ठ (चिकनी) पाण्डर तथा शर्करामयी होने पर मृदु एवं चित्र बन्धोपयोगिनी हो इस प्रकार क्षेत्रानुसार मृत्तिका शुभ बताई गई है। उसको कूट कर पीसे फिर करव बनावे। भात का अर्थात् शालिभक्त का पूर्वोक्त भाग वहां पूरा देना चाहिये। ग्रीष्म-ऋतु में सातवां भाग शीतकाल में पांचवां शरद् में छटा और वर्षा में चौथा भाग ग्रहण करे। वर्तिका-बन्धन के लिये इस प्रकार की मृत्तिकायें दृढ़ता को प्राप्त होती है। पुनः कल्क-बन्धन में पूर्ण कौशल की अपेक्षा होती है। रेखा वर्तन में—शिक्षा-काल में वर्तिका दो अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है। कुछ रेखाओं में वर्तिकायें तीन अंगुल की बताई गई है। जहां तक पट-चित्र में रेखाओं का प्रश्न है उन में चार अंगुल के प्रमाण से करना चाहिये ॥१-६२॥

भूमि-बन्धन—अब भूमि-बन्धन-क्रिया का वर्णन करूंगा। भूमि-बन्धन अर्थात् pictorial back ground में विशेष कर जो आवश्यक एवं अनिवार्य सामग्री होती है उसी से भूमि-बन्ध किया जाता है। पूर्ण नक्षत्र-वारों में और भाग्य दिवसों में वास करके कर्ता, भर्ता और शिक्षक नाना वर्ण के सुगन्धित कुसुमों से और सुगन्धित धूपों से पूजन करके उसका आरम्भ करें। सर्व-प्रथम मान उन्मान-प्रमाण के अनुरूप भूमि आदि सब सामग्री का निक्षेप एवं साधन जुटाकर पहले भूमि का विधान करे पुनः सम्यक् आलोचन करके बुद्धिमान को फिर इस भूमि-क्रिया का आलोचन करके पश्चात् बन्धन-विधान करना चाहिये। कल्क के आचरण में गेहूं के तण्डुल के सदृश अथवा तादृश मृत्तिका पीसकर कल्क बनाना चाहिये। फिर उसका पिण्ड बनाकर उसको धूप में सुखाना चाहिये। सुखाने के साथ साथ उसे थपथप भी करे तथा गोला सा बनाता रहे। इस प्रकार

से चारो कोनों में इसे सात दिन तक घिसना चाहिये फिर हाथ से उसे मलना चाहिये जिससे यह भौम लवण स्निग्ध हो जावे । अथवा निम्निका-भूमि पर खर-बन्धन का निर्माण करना चाहिये। तथा पूर्वोक्त वल्क के निर्यास में बन्धन को फेंकना चाहिये। ग्रीष्म काल में पांच भाग में प्रशस्त कहा गया है शरद में २½ अंशों से विधान है। अथच वर्षा-काल में एक भाग के प्रमाण से देना चाहिये यह निश्चित क्रम है। पांचों भाग के प्रमाण से ग्रीष्म में विधान है। पूर्वोक्त विधान से भूमि में बन्धन करना चाहिये। और रोमकूच (बुरुश) से सूखी सूखी का क्रमशः लेप करना चाहिये । इस प्रकार विचक्षणों को जल से हस्त लाघव देना चाहिये। इस प्रकार से बनाया गया निम्निका-भूमि बन्धन श्रेष्ठ कहलाता है ॥१६½—२३॥

कुड्य-भूमि-बन्धन—अब कुड्य-भूमि के बन्धन का यथावत वर्णन करते हैं। स्नुही-वास्तुक कूष्माण्ड कुद्दाली—इन वस्तुओं को लाए, अपामार्ग अथवा गन्ने के रस में अथवा दुग्ध में उनको सात रात तक रक्खे। शिंशपा सन और निम्बा तथा त्रिफला और बहेड़ा इन का यथालाभ समान समान भाग लेकर और कुटज का कषाय क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कषायों में सींचे। फिर स्थल पाषाण वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दुगना व्यास करके, वालुका-मदा (वालुकामयी मिट्टी) का क्षोदन करना चाहिये । फिर कुकुभ माष (उड़द) शाल्मली श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिये। पूर्वकालानुसार में जिस प्रकार का भूमि बन्धन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथी के चमड़े की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपे। पुनः उसे दर्पण सदृश चिकना एवं प्रस्फटित कर देवे। विशुद्ध, विमल स्निग्ध पाण्डुर मृदुल स्फट-प्रथम प्रतिपादित कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कूट कर और घिसकर कल्क बनाना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिए अथवा उसे कटशर्करा के साथ देना चाहिये। इस प्रकार विचक्षण लोग कुड्य का लेपन करते हैं। हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट शर्करा देनी चाहिये । इस विधि से कुड्य बन्धन उत्तम सम्पन्न होता है ।२४—३५॥

पट्ट भूमि बन्धन —अब इस समय पट्ट भूमि का निबन्धन बताया जाता। नीम के बीजों को इकट्ठा करके उनके मल को त्याग कर इस प्रकार से उनका छिलका निकाल कर अथवा शालि तण्डुलों को इन दोनों में से एक को लेकर बर्तन में पकावें। बन्धन से पट्ट का लेपकर पूर्वोक्त विधान समाचरण करे।

पूर्वोक्त प्रकार से वटशर्करा को निर्यामित करके फिर पानी से पट्ट को भिगोकर पट्ट का आलेखन करे। इस विधि से चित्र-कर्म में बड़ा प्रशस्त होता है अथवा दूसरी विधि से पट्ट भूमि-बन्धन करना चाहिये। तालादि-पत्रों के निर्यास समुचित बनाकर तदनन्तर निर्यासयुत वटशर्करा तीन बार देना चाहिये। इस प्रकार से यह पट्ट-भूमि-बन्धन विशेष-रूप से प्रयत्न पूर्वक बनावें।

पट-भूमि बन्धन —जैसा पट्ट-भूमि बन्धन में गोमय आदि निर्यास का विधान है उसी प्रकार पट-भूमि-बन्धन भी विहित है

''यथा पट्ट तथैव स्यात् भूमि बन्ध पटेऽपि स ।

इस प्रकार से हमने चित्राङ्ग विशेष—वर्तिका एवं भूमि-बन्धन के सब साधनों एवं साध्यों का लक्षण-पुरस्सर वर्णन किया। जो शिल्पी इस चित्र-क्रिया में कौशल से कर्म करता है वह विधाता की इस सृष्टि में बड़ी कीर्ति पाता है ॥३६—४३॥

लेप्यकर्मादिक-लक्षण

मृत्तिका और लेखा के लक्षण के साथ अब लेप्य-कर्म का वर्णन किया जाता है ॥ ½ ॥

वापी कूप, तड़ाग पद्मिनी, दीर्घिका वृक्ष-मूल नदी-तीर और उसी प्रकार गुल्म-मध्य–ये तत्वपूर्वक मृत्तिकाओं के क्षेत्र बताये गये है ॥१—२॥

उक्त मट्टियो के रग विभिन्न प्रकार के होते हैं –सित (सफेद) क्षौद्र-सदृश गौर और कपिल ये चिकनी मिट्टिया ब्राह्मण आदि वर्णों में क्रमश प्रशस्त मानी जाती हैं ॥ ३ ॥

यथाशास्त्रानुकूल स्थूलपाषाण-वर्जिता मनिका लेनी चाहिये ।

शाल्मली (सेमल) माष (उड़द) ककुभ मधूक (महुआ तथा त्रिफला इन वृक्षो का रस उस मिट्टी पर डाल कर और बालू को भी मिला कर घोड़े के सटा-लोम अथवा गौओ के रोम या नारियल का बकला देना चाहिए और मिट्टी में मिल कर फेंटना चाहिए अथवा उससे दूनी भूमी मिलानी चाहिये और जितनी बालुका हो उतनी ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी मे कपास के दो भाग मिलाने चाहिएँ। इन सब को एकत्रित करके तीसरा मिट्टी का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदन तर पूर्वोक्त कल्क करा का रखकर कल्क बनाना चाहिए और उसे कपडे से ढक देना चाहिए।

लेप्य कर्म मत्तिका–निर्णय के लिये शिल्प-कौशल के साथ साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है। वृक्ष से कट शर्करा का निम्नन मनिका-क्वाथादि अन्य उपादान भी मानादि के साथ २ भी उपादेय हैं

शास्त्र प्रतिकूलाचरण से कर्ता का नाश भी प्राप्त होता है ॥४—१२½॥

अब लेखा का लक्षण ठीक तरह से बताया जाता है। पहला कूच अथवा कूचक दूसरा हस्त कूचक तीसरा भास-कूचक चौथा वल्ल कूचक, पाचवा वतना-कूचक ये पाँच प्रकार के कूचक (ब्रुश) बताये गए हैं।

बैल के कान के रोमो से बना हुआ कूचक बुद्धिमान मनुष्य को धारण करना चाहिए।

अथवा उसे वल्कलो से अथवा खरकेशरा से बनाना चाहिए। कूर्चक सिद्ध-हस्त के द्वारा जो बनाया जाता है वह प्रशस्त होता है।

त`ु स कूचक विलेखा-कम में श्रेष्ठ हाता है। पहला वट-वक्ष के अकुर क आकार वाला और दूसरा पीपल वक्ष के अकुर के आकार वाला और तीसरा प्लक्ष के अकुर के आकार वाला, पुन चौथा उदुम्बर (गूलर) वक्ष के अकुर के आकार वाला बताया गया है। वटाकुर सदृश आदि कूचक से मोटी लेखा नही बनाना चाहिए और प्लक्ष के अकुर के समान छोटी लखा नही होनी चाहिए। पीपल क अकुर के समान जहा पर विद्वान लोग लखा करते हैं वहा गूलर (उदुम्बर) क अकुर के आकार वाला कूचक लप्य-कर्म मे प्रशस्त माना जाता है। बास का कूचक भी चित्र-कम मे प्रशस्त माना गया है। कूचक के दण्ड म वास्तव मे वेणु (बास) की ही लकडी विशष श्रेष्ठ मानी गयी है ॥१२½–२२½॥

लेप्य-कम सक्षेप से बताया गया। पुन मिट्टी की सस्कार-विधि बताई गई। अथच यहा पर ठीक तरह से विलखनी और कूचक की पाच प्रकार की रचना सम्यक् प्रकार से वणन की गई है ॥२३॥

अथाण्डक-प्रमाण-लक्षण

अब प्रक्रम-प्राप्त अण्डक-वर्तना का वर्णन किया जाता है तथा जातिभाव आदि मे सम्पादन का प्रमाण भी वर्णित किया जाता है। १॥

टि० द्वितीय श्लोक त्रुटित है अत अननूद्य।

शास्त्रानुकूल प्रमाण से गोल का प्रमाण उत्तम बताया गया है। उसी के अनुसार मान और उन्मान बनाना चाहिये ॥२—३॥

मुखाण्डक अर्थात प्रधान अण्डक का विस्तार छ भाग समित विहित है और दो भाग समित लम्बाई विहित है। सात गोल बनाने चाहिये और इसी प्रकार से बाकी का सस्थान इस प्रधान अण्डक के निर्माण से चित्र-कम मे उत्तम बताया गया है। तीन कोटि का वत्त आलेखन करके और अण्डक क्रमश बनाने चाहियें। नाना विध अण्डको का निमाण चित्र कम म आवश्यक है। अण्डक का अर्थ है खाका। बिना पहिले सोच-विचार के चित्र-न्यास असभव है। आधे गोले के आयाम स अलसाण्डक बनाया गया है और दो गोल की मोटाई स हास्याण्डक होना है। पुरुषाण्डक का मान छै गोलो से आयाम और पाच गोलो से विस्तत होता है। वनिताण्डक नारियल के फल-सदृश आलेख्य होता है। उसका विस्तार चार गोलो से और लम्बाई पाच गोलो से होती है। शिशुओ का अण्डक चित्र-कम मे निश्चय ही करना चाहिये। हास्याण्डक भी उसी प्रकार अनिवाय है। इसी प्रकार से आलस्याण्डक तथा रोदनाण्डक करना चाहिये। हास्याण्डक भी शास्त्रानुकूल विनिर्मेय है। देवाण्डक प्रमाण आलस्य के समान बताया गया है। वह छ गोलो के विस्तार से और आठ गोलो की लम्बाई से सम्पन्न होना है। वृत्तायत सम,लेख्य दिव्याण्डक बताया गया है ॥४-१३॥

अब दिव्य और मानव अण्डको का लक्षण कहता हू। आधे गोले से अधिक मानुषाण्डक के प्रमाण से उसे बनाना चाहिये। पाच गोलो से विस्तीर्ण और छै गोलो से आयत मुखाण्डक को मानुष रूप बनाकर उस पूर्ण बनाया जाता है। शिशुकाण्डक-प्रमाण से प्रमथो का मुखाण्डक होता है। राक्षसाण्डक-प्रमाण मे यातुधानाण्डक होता है। देवो के मुख-सदृश दानवाण्डक बनाना चाहिये और

उसी के समान गन्धर्वों, नागो और यक्षो के अण्डक होते हैं। विद्याधरा का दिव्य-मानुष-अण्डक समझना चाहिये ।१४—१८½॥

कोई लोग शास्त्र जानते हैं, कोई लोग कर्म करते हैं। जो इन दोनों चीजो (शास्त्रार्थ ज्ञान और कर्म कौशल) को करामलकवत् नहीं जानते हैं पुन व शास्त्रज्ञ होकर भी कर्म को नहीं जानते और कर्मज्ञ होने पर शास्त्र को नहीं जानते और जो दोनो को जानते हैं वे ही श्रेष्ठ चित्रकार कहलाते हैं ॥१८½-२०½॥

टि० इस अध्याय में कुछ विगलन प्रतीत होता है जैसा हमने मूल में अपने परिमार्जित संस्करण में निर्दिष्ट किया है।

चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षण

चित्र-कम मानोत्पत्तिलक्षण —अब परमाणु आदि जो मान-गणना होती है उसका वर्णन करता हू ॥१॥

परमाणु रज रोम लिक्षा यूका, यव अगुल क्रमश अठगुणी वृद्धि से इस प्रकार से मान का अगुल होता है—अर्थात ८ परमाणु का रज ८ रज का रोम ८ रोम की लिक्षा ८ लिक्षा की यूका ८ यूका का यव और ८ यव का अगुल होता है। दो अगुल वाला गोलक समझना चाहिये। अथवा उसका कला कहा जाता है। दो कलाओ अथवा दो गोलको किसी इन दोनो म से उस प्रमाण एव भाग तथा उसी प्रमाण से एव आयाम से विस्तार का न तो कम न ज्यादा चित्र-निर्माण करना चाहिये ॥२-४॥

देवता आदि के शरीर, विस्तार से आठ भाग वाले होते हैं और उनका यह शरीर चित्र-शास्त्रियो का तीस भाग की लबाई से बनाना चाहिये। असुरो का शरीर तो साढे सात भागो से विस्तत और उन्तीस भाग से लबा बनाना इष्ट बताया गया है। राक्षसो का शरीर सात भाग से विस्तत और सत्ताईस भाग से आयत होना है और दिव्य मानुष के शरीर तो शास्त्रानुकूल विहित हैं। छ भाग मे विस्तत मनुष्यो का करना चाहिये और उनकी लबाई साढे चौबीस भागों स बन ना चाहिये। यह मान हमने उत्तम पुरुष का बताया है। मध्यम पुरुष का तो विस्तार साढे पाच भाग का होता है और उसका आयाम तो २३ भागो का बताया गया है और कनिष्ठ शरीरो का विस्तार पाच भाग के प्रमाण का होता है और इस शरीर का आयाम बाईस भागो का प्रशस्त माना गया है। कुब्जो (कुबडो) के शरीर का विस्तार पाच भाग मे और दैर्घ्य चौदह भागो से बनाना चाहिये। ५ य विकल्प-प्रमाण जैसे वामनादि अर्थात् बौनो के भी शास्त्रानुसार विनिर्दिष्ट हैं। किन्नरो का भी यही प्रमाण बताया गया है। प्रमथा के शरीर का विस्तार ता चार अशो मे बताया गया है और लबाई छ अशो मे। यह प्रलग २ हमने देह के प्रमाण को भाग-सूत्र बताया। देवो का असुरो का

और उसी प्रकार राक्षसो का, दिव्य-मानुषो का, मर्त्यों का तथा कुब्जो और वामनो, इन दोनो का भी और भूतो सहित किन्नरो का क्रमश इसमे उदाहरण दिया गया ।।४½—१७½।।

टि० यहा पर अण्डक-वर्तन अथवा उसका विलेखन-क्रम आपतित सा प्रतीत होता है ।

अब मानोत्पत्ति का यथावत वर्णन करता हू। देवो के तीन रूप होते हैं। मुरज, (?) तथा कुम्भक, दिव्य-मानुष का एक दिव्य-मानुष शरीर, असुरो के तीन रूप—चक्र, उत्तीणक और दुर्दर तथा राक्षसो के फिर दो—शक्ट और कूर्म। मनुष्यो के पाच रूप होते हैं जिनका क्रमश वर्णन करता हूँ —

हस, शशक, रूचक, मालव्य तथा भद्र—ये पाच पुरूष होते हुए ।।१७½-२१।।

कुब्जक दो प्रकार के—मेप तथा वृत्तक, वामन तीन प्रकार के—पिण्ड, आस्थान और पद्मक, प्रमथ भी तीन प्रकार के हैं—कूष्माण्ड क्वट तथा तियक्, किन्नर भी तीन प्रकार के होते है—मयूर, कुक्ट और नाग ।।२२-२३।।

स्त्रिया—वलाका, पौरूषी वृत्ता, दण्डका तथा ? ये चित्र-शास्त्रियो के द्वारा सब पाच प्रकार की बताई गई हैं ।।२४।।

भद्र, मन्द, मृग और मिश्र—यह चार प्रकार का हाथी होता हैं और उत्पत्ति के हिसाब से यह तीन प्रकार क बताये गये हैं—पर्वताश्रय नद्याश्रय, ऊपराश्रय। पारस (फारस) से लगा कर उत्तर (देश वासी) तक रथ्य घोडे दो प्रकार के होते है। सिंह चार प्रकार के होते हैं—शिखराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय और तृणाश्रय। व्याल सोलह प्रकार के होते है—हरिण, गृधृक, शुक, कुक्कट, सिंह, शार्दूल, बृक, अजा, गडकी, गज, क्रोड, अश्व, महिष, श्वान, मर्कट और खर ।।२५-३०।।

टि० अयांश (२८½—३०) पुनरुक्त एव भ्रष्ट भी अत अनुवादानपेक्ष्य।
विशेष —इस मूलाध्याय का ३१-३८½ प्रतिमा-लक्षण-नामक अध्याय का प्रक्षिप्तांश है, अत वह तत्रव परिमार्जित सस्करण मे प्रतिष्ठित किया गया है।

इस प्रकार सभी जातियो को दृष्टि मे रखकर यह सब मान-प्रमाण कहा गया। दिव्य आदि सभी जातियो का जो अखिल मानादि-कीर्तन किया, उसको स्फुट-रूप से समझ कर जो चित्रालेखन करता है उस के लिए सभी चित्रकार उस को अपना प्रधान मानते हैं तथा महान आदर करते है ।।३१।।

रसदृष्टि-लक्षण

चित्र रस —अब रसो का और दष्टियो का यहा पर इस वास्तु-शास्त्र मे लक्षण कहूगा । क्योंकि चित्र मे रस के आधीन ही भाव व्यक्ति होती है । श्रृगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेय, भयानक, वीर, प्रत्याय (?) और बीभत्स तथा अद्भुत और शान्त—ये ग्यारह रस, चित्र-विशारदो के द्वारा बताये गये हैं । अब इन सब रसो का क्रमश लक्षण कहा जाता है ॥१—३॥

श्रृगार —भ्रूकम्प-सहित तथा प्रेम-गुणान्वित श्रृगार रस बताया गया है और इस रस म अपने प्रिय के प्रति मनोहर (ललित) चेष्टायें होती है ॥४॥

हास्य —अपाग आदि को ललित एव विस्मित करने वाला तथा अधरो को स्फुरित करने वाला मृदु लील-सहित जो रस होता है, वह हास्य रस के नाम से पुकारा जाता है ॥५॥

करुण —आसुओ स कपोल-प्रदेश को क्लिन्न करने वाला, शान्त स आखो को सकुचित करने वाला और चित्त को सताप देने वाला करुण-रस कहलाता है ॥६॥

रौद्र —जिस रस से ललाट-प्रदेश निर्मार्जित हो जाता है, आखें लाल हो जाती हैं, अधरोष्ठ दातो से काटे जाते हैं, उसे रौद्र-रस कहते हैं ॥७॥

प्रेमा-रस —अर्थ-लाभ पुत्र-उत्पत्ति प्रिय-जनो का समागम और दर्शन, जात-हर्ष से उत्पन्न होने वाला तथा शरीर को पुलकित करने वाला प्रेमा-रस कहा जाता है ॥८॥

भयानक —शत्रु-दर्शन से उत्पन्न त्रास एव सम्भ्रम से लोचनो को उदभ्रान्त करने वाला और हृदय को सक्षुब्ध करने वाला भयानक रस कहलाता है ॥९॥

वीर —धैर्य, पराक्रम एव बल को उत्पन्न करने वाला—वह रस वीर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०॥

टि० —यहा पर वीर के बाद अन्य दो रसो का लोप हो गया है । ग्रन्थ भ्रष्ट एव गलित है ।

अद्भुत-रस दो तारकाओं को स्तिमित करने वाला, यह रस असम्भाव्य वस्तु को देखकर अद्भुत-रस की सत्ता से प्रसिद्ध होता है ।।११।।

शान्त रस — विना विकारों के शान्त एवं प्रसन्न भ्रू नेत्र तथा वदन आदि से एवं विषय-वैराग्य से यह रस शान्त रस के नाम से प्रथित होता है ।। १२।

इस प्रकार चित्र संयोग में सलक्षण इन रसों का प्रतिपादन किया गया है। मानव-मन्द व पुरस्सर सब सत्वों अर्थात् प्राणियों में इनका नियोजित करना चाहिये ।।१३।

चित्र रस दृष्टियाँ अब रस-दृष्टियों का वर्णन करता हूँ। ये अठारह बताई गई हैं —

(१) ललिता (२) हृष्टा, (३) विकासिता, (४) विकृता (५) भ्रूकुटि, (६) विभ्रमा, (७) सकुचिता (८) छविना (?) (९) ऊर्ध्वगता, (१० योगिनी, (११) दीना, (१२) दृष्टा, (१३) विह्वला, (१४) शकिता, (१५) दिविह्या, (?), (१६) जिम्हा, (१७) मध्यस्था एव, (१८) स्थिरा — ये अठारह दृष्टियाँ होती हैं। अब इनका क्रमशः लक्षण कहा जाता है ।।१४ १६।।

ललिता — विकसित मुखाब्ज, कटाक्ष विक्षेप वाली शृंगार रस से उत्पन्न ललिता दृष्टि समझनी चाहिये ।।१७।।

हृष्टा — प्रिय-दर्शन पर प्रसन्न और पूर्ववत् रोमाञ्च करने वाली तथा अपांगों को विकसित करने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि प्रसिद्ध होती है ।।१८।।

विकासिता — नयन प्रान्तों को विकसित करने वाली तथा अपांगों, नयनों एवं गण्ड-स्थलों को विकसित करने वाली क्रीडा चापल्य-युत हास्य-रस में विकासिता दृष्टि होती है ।।१९।।

विकृता — भय को व्यक्त करने वाली और जिस में तारकायें भ्रान्त होने लगती हैं उस भयानक रस में इस दृष्टि को विकृता नाम से पुकारा जाता है।।२०।।

भ्रूकुटि — दीप्त ऊर्ध्वतारका के रक्त वर्ण होने से मन्द-दर्शना तथा उद्ध्व-निविष्टा दृष्टि को भ्रकुटि बताया गया है ।।२१।।

विभ्रमा — सत्व-स्था दृढ़ पक्ष्मा, सुन्दर-तारका, सौम्या एवं उद्वेलिता इस दृष्टि को विभ्रमा नाम से बताई गई है ।।२२।

सकुचिता मन्मथ-मद से युक्त, स्पर्श रस से उन्मीलित दोनों अक्षि पुटों वाली सुरतानन्द से युक्त सकुचिता नाम की यह दृष्टि विख्यात होती है ।।२३।।

योगिनी –निर्विकारा कहीं पर नासिका के अग्र भाग का देखने वाली अर्थात ध्यानावस्थित चित्त के तत्व मे रममाणा योगिनी नाम की दष्टि होती है ॥२४॥

दीना –अध-अस्तोत्तर पुटा अर्थात ओष्ठादि-वदन अवनत से प्रतीत हो रहें हो पुन कुछ मन्द्र-तारका, मन्द सञ्चारिणी शोक मे आसुओ से युक्ता, दीना नाम को दष्टि कही गई हैं ।२५॥

दृष्टा —जिसकी तारकाये स्थिर हो और जिसकी दृष्टि स्थिर एव विस्मित प्रतीत हो रही हो वह उत्साह से उत्पन्न होने वाली दृष्टा नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२६॥

विह्वला —भ्रू पुट तथा पक्ष्मो को म्लान करने वाली, शिथिला, मन्द-चारिणी तथा तारकाओ मे आभासित वह विह्वला नाम की दृष्टि बताई गई हैं ॥२७॥

शंकिता —कुछ चञ्चल, कुछ स्थिर, कुछ उठी हुई कुछ टेढी-मढी और चकित-तारा दृष्टि को शकिता नाम स पुकारते हैं २८॥

जिह्मा —जिसके मुखाङ्ग सभा पुट लम्बित हो रहे हो, दृष्टि टेढी तथा रुभा दिखाई पड रहा हो ऐसी निगूढा और मूढ-तारा को जिह्मा दृष्टि कहते हैं ॥२९–३०॥

मध्यस्था —सरल-तारा, सरल-पुटा, प्रसन्ना, राग रहिता, विषय-पराङ्मुखा ऐसी मध्यस्था दष्टि कहलाती है ॥३१॥

स्थिरा —सम तारा सम पुटा तथा सम-भ्रू वाली, अविकारिणी और रागा से विहीन स्थिरा दृष्टि कहलाती है ॥३२॥

हस्त से अर्थ को सूचित करता हुआ तथा दृष्टि से प्रतिपादित करता हुआ सब अभिनय-दर्शन से सजीव सा जो प्रतीत हो अर्थात जो नाट्य म अनिवाय एव आवश्यक अग है वही चित्र मे भी अनिवाय है ॥३३–३४॥

इस प्रकार से यहा पर रसो का तथा दृष्टियो का सक्षेप से लक्षण कहा गया। लिखने वाला मनुष्य चित्र का यथावत ज्ञान-सम्पादन करके कभी सशय को नही प्राप्त होता है ॥३५॥

षष्ठ पटल

चित्र एव प्रतिमा—दोनो के सामान्य अङ्ग

१ प्रतिमा एव चित्र के द्रव्य

२ प्रतिमा एव चित्र मे चित्र्य देवादिको के रूप एव प्रहरण आदि लाञ्छन

३ प्रतिमा एव चित्र के दोष-गुण

४ प्रतिमा एव चित्र की आदर्श आकृतिया (Models) एव उनके मान

५ प्रतिमा एव चित्र में मुद्राये —

(अ) शरीर मुद्राय

(ब) पाद-मुद्रायें

(स) हस्त मुद्रायें

प्रतिमा-लक्षण

अब प्रतिमाओं—चित्रों का लक्षण कहता हू । इनके सात निर्माण द्रव्य प्रकीर्तित किये गये है वे है सुवर्ण (सोना) रजत (चांदी) ताम्र (तावा) अश्मा (पाषाण-पत्थर) दारु (लकडी) लेप्य अर्थात मत्तिका तथा अन्य लेप्य जैसे मालिक और ताण्डुन आदि तथा अलेख्य अर्थात चित्र । ये सब शक्त्यानुसार विहित एव निर्माण्य बताये गये है । । पुनः चित्रों मे इस प्रकार से य प्रतिमा-द्रव्य सात प्रकार के बताय गये हैं । सुवर्ण पुष्टि प्रदायक माना गया है रजत कीर्ति वधन कारी, ताम्र प्रजा-वृद्धि कारक शलेय अर्थात पाषाण, भज या वह कास्य-द्रव्य आयुष्य कारक और लेप्य तथा अलेख्य ये दोनो धन प्राप्ति-कारक कहे गये है ॥ १—३ ॥

विद्वान ब्रह्मचारी और जितेंद्रिय स्थपति को विधि-पूर्वक प्रतिमा-निर्माण तथा यह चित्र कर्म-प्रारम्भ करना चाहिए । वह हविष्य-मितनाहारी तथा जप-होम-परायण और धरणी अर्थात पृथ्वी पर सोने वाला होना चाहिये ॥४-५½॥

टि० पूर्वाध्याय के अन्तिम पृष्ठ पर जो प्रक्षेप बताया गया है वह यहां पर लाना प्रासगिक माना गया है । अत वह यहा पर सयोज्य है —

' मुख का भाग से विधान है । ग्रीवा मुख से तीन भाग वाली बतायी गयी है । आयामानुरूप केशान्त पूर्ण मुख द्वादशागुल विस्तारानुरूप परिकल्प्य है । दोनो भौहों का प्रमाण त्रिभाग से विहित है । नासिका भी त्रिभाग-परिकल्प्य है । उसी प्रकार ललाट का प्रमाण भी विहित है । ऊचाई मे तीन के बराबर मुख कहा गया है । दोनो आखें दो अगुल के प्रमाण मे होती हैं । उसका विस्तार आधा कहा गया है । अक्षि तारका आख के तीन भाग से सुप्रतिष्ठित करणीय है । पुन इन दोनो तारकाओ के मध्य मे ज्योति (आख की ज्योति) तीन अश से परिकल्प्य है । इसी प्रकार इन अखिल मुखागो का प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है ॥५½-१०½

पाच अक्ष के प्रमाण से (?) दोनो का मध्य बनाना चाहिये । नेत्रों और कानो का मध्य पाच अगुल का होता है । ऊचाई से दुगने

आयत वाले दोनो कान आख के समान समझने चाहियें। कण-पाली तथा उसके अन्य उपाग भी शास्त्रानुकूल निर्मेय है। वह खीचे हुए धनुष की आकृति वाली अरोम प्रभवा समझनी चाहिये । इसी प्रमाण से इन का कण-पष्ठाश्रय भी होना चाहिये ॥१०३—१४॥

ऊध्व-बध से कर्ण-मल-समाश्रित अधोत्रय वह होता है। आधे २ से गोलक समझना चाहिये और पीछे से इसी प्रकार विधान है। निष्पाव के सदृश आकार वाली कर्ण-पिप्पनी बनानी चाहियें। उसका आयाम एक अगुल का और विस्तार चार यवो का होना चाहिये। पिप्पली के नीचे लक्र म य में न ार न इसकी सना लकार दी गयी है इसका आयाम आधे अगल का और विस्तार पूरे अगुल का होना चाहिये। बीच में जो लकार है उसका विस्तार चार यवो क निम्न से होता है। पिप्पली के मूल मे चार यव क प्रमाण से कर्ण-छिद्र होता है। जो स्वतिका की सना पीयूषी गोलाकार बनायी गयी है, वह आधे अगुल से आयत और दो यवो के विस्तार से बनायी जाती है। लकार और आवत (परदा) के मध्य मे उसको पीयषी के नाम से पकारते हैं। वह दो अगुल के आयाम वाली और डेढ अगुल के विस्तार वाली होती है। कान की जो बाह्य रेखा होती है उसको भी आवत कहते है। वह छै अगल का प्रमाण वाला वक्र और वृत्तायत होता है। मूल का अग्र आधे अगुल का बनाना चाहिये और क्रमश मध्य मे दो यव का। फिर आग एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाया जाता है। लकार और आवर्त के मध्य को उद्धान के नाम से पुकारा जाता है। उपर से गोलक म दो यव स युक्त कर्ण का विस्तार होता है। मध्य म दुगना नाल और मूल म छै यवो से इन दोनो समुदायो के प्रमाण से आयामादि विहित है। इसी प्रकार अन्य भाग विहित हैं। पश्चिम नाल एक अंगुल के प्रमाण से बनाया जाता है तथा जो सुकोमल नाल दो कलाओ के आयत से बनाना चाहिए। कान के भाग का इस प्रकार सम्यक वर्णन कर दिया गया। उसका प्रमाण तो कम और न अधिक होना चाहिये। तब उसका कौशल प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित ॥५१ २१॥

चिबुक (ठोडी) अगुल के आयाम से बताया जाता है। उसके आधे से कन्धर बताया गया है फिर उसके आधे से उत्तरोष्ठ होता है और भाजो आधे अगुल की उचाई से बनायी जाती है। ओठो के चतुथ भाग से दोनो नासा-पुट समझने चाहिये। उसके दोनो प्रान्त करवीर के समान सुन्दर बनाने

तारकान्त-सम ही स्वक्वणी कही गयी है । चार अगुल के प्रमाण से आयात नासिका हाती है। पुट के प्रान्त पर नासिका का अग्र-भाग दो अगुल से विस्तृत होता है। आठ अगुल से विस्तृत चार अगुल मे आयत ललाट बताया गया है। चिबुक (ठोडी) से प्रारम्भ कर केशो के अन्त तक तथा गड तक पूरे शिर का प्रमाण बत्तीस अगुल का होना है। पुन दोनो कानो के बीच का विस्तार प्रमाण अठारह अगुल होना है । चौबीस अगुलो का परीणाह होना है। गदन ग्रीवा से वक्ष-स्थल पुन वक्ष स्थल से नाभि होती है। नाभि से मेढ, फिर दो जघायें फिर ऊरुओ के समान दो जघायें दो घुटने चार अगुल वाले होते है । चौदह अगुल के आयाम प्रमाण से दोनो पग (पाद) बताये गये हैं और उनका विस्तार छै अगुल का होना चाहिये और ऊचाई चार अगुल की। पाच अगुल की मोटाई मे और तीन अगुल की लम्बाई मे दोनो अगूठे होते है। अगूठे की लम्बाई के समान ही प्रदशिनी (पहिली अगुली) है । उसके सोलह भाग से हीन बीच की अगुली बीच की अगुली के आठवे भाग से हीन अनामिका को समझना चाहिये। फिर उसके आठवे भाग से हीन कनिष्ठिका अगुली समझनी चाहिये। विद्वान को पादकम एव अँगुल के प्रमाण से अँगूठे का नख बनाना चाहिये और अँगलियो के नखो को आठ अशो के प्रमाण से बनाना चाहिये। अगूठे की ऊचाई एक अगुल एव तीन यवो के प्रमाण मे बनाना चाहिये। प्रदशनी एक अगुल की ऊचाई से हीन शेष क्रमश । जघा के मध्य मे अठारह अगुल का परीणाह होता है और जानु के मध्य का परीणाह इक्कीस अगुल का होता है। उसी के सातवे भाग का जानु-कपालक समझना चाहिये। दोनो ऊरुओ के मध्य का परीणाह बत्तीस अगुल का होना चाहिये। वषण पर स्थित मढ का परीणाह छै अगुल का होता है और कान्ता चार अगुल वाला तथा अठारह अगुल के विस्तार से कटि होनी है ॥२२-३८॥

जहा तक स्त्री प्रतिमाओ के निर्माण का विषय है वहा उसके विशिष्ट (पुरुष-प्रतिमा व्यतिरिक्त) अग शास्त्रानुकूल निर्मेय है । नाभि के मध्य मे छियालीस अगुलो का परीणाह होता है। स्तनो का अतर बारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है। दोनो स्तनो के ऊपर तो दोनो कक्ष प्रान्त छै अगुल के प्रमाण से बनाये जाते है। ऊचाई से चौबीस अगुलो से युक्त पृष्ठ विस्तार होता है और वक्षस्थल का परीणाह पृष्ठ के साथ बताया गया है। जहा तक स्त्री-प्रतिमाओ की अगुलियो के मान की बात है वह भी शास्त्रानुकूल है। बत्तीस अगुलो के परीणाह से विस्तृत ग्रीवा बनाना चाहिये। छियालीस अगुल के प्रमाण

से भुजा की लबाई बतायी गयी है। बाहु के पहिले की पव अठारह अगुल से और दूसरी पव तो सोलह अगुल से बतायी गयी है । बाहु मध्य म परीणाह १८ अगुल का होता है और प्रबाहु का परीणाह बारह अगुल से और तल भी बारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है । अगुली रहित, बुद्धिमानो के द्वारा उसे सप्तागुल बताया गया है । पाँच अगुल से विस्तीर्ण लेखा लक्षण से लक्षित पाच अगुल के प्रमाण से मध्यमा अगुली बनानी चाहिए । मध्म के पव के आधे से आगे हीन प्रदशिनी अगुली समझनी चाहिए और प्रदेशिनी के समान ही आयाम से अनामिका विहित है। फिर आध पव के प्रमाण से हीन कनिष्ठिका बनानी चाहिए । पव के आध प्रमाण से अगुलियो के सव नाखून बनाने चाहिये । इनका परीणाह आयाम-मात्र बताया गया है । अगुष्ठ का दैर्घ्य चार अगुलो का होना है । स्पष्ट, चारु अथात सुन्दर यवाकिन पञ्चागुल इसका परीणाह विहित है । ऊचाई के अनुरूप ही मान पयन्त में कुछ हीन नख बनाय गय है। अगुष्ठ और प्रदशिनी का अन्तर दो अगुल का होना है ॥३९—५१॥

स्त्रियो का इसी प्रकार से स्तन उरु, जघन अधिक होता है । तीन, चार चार तीन, अथवा केवल चार अधिक होता है। ग्यारह, अथवा दस अथवा तेईस तईस—यह सब स्त्रियो का कनिष्ठ मान बताया गया है और मध्य-मान ग्यारह अश का होता है । आठ कला का मान उत्तम प्रमाण बताया गया है । उनके वक्ष स्थल का विस्तार अठारह अगुल से करना चाहिए और कटि का विस्तार चौबीस अगुल मे करना चाहिये ॥५२—५५॥

प्रतिमाओ का यह सक्षेप प्रमाण बताया गया है ॥५६½॥

सकल देवो की पूजाओ मे क्रमश यह प्रमाण निदिष्ट किया गया। अत शिल्पियो को सावधानी स यथोचित द्रव्य-सयोग से इन प्रतिमाओ का निर्माण करना चाहिये ॥५७॥

देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण

अब देवताओं के आकार और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन करता हूँ और उसी प्रकार दैत्यों के यक्षों के गन्धर्वों नागों और राक्षसों के तथा विद्याधरों और पिशाचों के भी विवरण प्रस्तुत करता हूँ ॥१-२॥

ब्रह्मा—अग्नि की ज्वालाओं के सदृश महा तेजस्वी बनाने चाहियें और स्थूलांग श्वेत-पुष्प धारण किये हुए श्वेत वस्त्र पहने हुए और कृष्ण मृग चर्म को उत्तरीय (ऊर्ध्व वस्त्र) धोती के रूप में धारण किए हुए सफेद कपड़ों की ड्रेस में चार मुख वाले बनाने चाहियें। इनके दोनों वाम हस्तों में दण्ड और कमण्डलु का न्यास करना चाहिए उसी प्रकार उन्हें मौञ्जी मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए और दक्षिण हाथ में संसार की वृद्धि करते हुए बनाना चाहिए। इस प्रकार बनाने पर संसार में सब जगह क्षेम होता है और ब्राह्मण लोग सब कामनाओं से बढ़ते हैं इसमें कोई शक नहीं। जब विरूपा दीना कृशा, रौद्रा कृशोदरी यदि ब्रह्मा जी की प्रतिमा बनाई जाय तो वह कल्याण-कारक नहीं होती है। रौद्र-मूर्ति बनवाने वाले को मारती है और दीन-रूपा कारीगर को मारती है। कृशा मूर्ति बनवाने वाले को सदा विनाश प्रदान करती है और कृशोदरी तो दुर्भिक्ष लाती है और कुरूपा अनपत्यता को प्रदान करती है। इस लिये इन दोषों को छोड़ कर यह प्रतिमा ब्राह्म प्रतिमा-निर्माण कुशल शिल्पियों द्वारा सुन्दर बनानी चाहिये ॥१३-९॥

शिव—प्रथम यौवन में स्थित चन्द्रांकित जटा-धारी श्रीमान् संयमी नीलकण्ठ विचित्र-मुकुट निशाकर-चन्द्र-सदृश तेजस्वी भगवान शम्भु की प्रतिमा बनानी चाहिये। दो हाथों से, चार हाथों से अथवा आठ हाथों से युक्त वह मूर्ति बनायी जानी चाहिए। पट्टिश अस्त्र से व्यग्र हस्त सर्पों और मृग चर्म से युक्त, सब-लक्षण सम्पूर्ण तथा तीन नेत्रों से भूषित इस प्रकार के गुणों से युक्त जहां लोकेश्वर भगवान शिव बनाये जाते हैं वहां पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है ॥१०-१३३॥

जब नगर में अथवा श्मशान में महेश्वर की प्रतिमा बनायी जाती है तो

वहां भी यह रूप कुछ भिन्न बनाना चाहिये—विशेषकर आकृति एवं हस्त-प्रयोग। ऐसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है। अठारह बाहु वाले अथवा बीस बाहु वाले अथवा शत बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले रौद्र रूप धारण किये हुए, गणों से घिरे हुए सिंह-चर्म को उत्तरीय-वस्त्र के रूप में धारण किये तीक्ष्ण दंष्ट्रा से समान भाग के दांत वाले, शिरोमालाओं से विभूषित चन्द्र से अङ्कित मस्तक वाले श्रीमान् पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले इस प्रकार श्मशान स्थित रुद्र मूर्ति महेश्वर का निर्माण करना चाहिये। ॥१३½-१७½॥

दो भुजा वाले राजधानी में और पत्तन (शहर) में चतुर्भुज तथा श्मशान और जङ्गल के बीच में बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये ॥१७½-१८½॥

यद्यपि भगवान रुद्र (शिव) एक ही हैं स्थान भेद से वे भिन्न भिन्न रूप वाले तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानों के द्वारा निर्मित होते हैं। जिस प्रकार से भगवान सूर्य उदय-काल में सौम्य-दर्शन होते हुए भी मध्याह्न के समय प्रचण्ड हो जाते हैं, इसी प्रकार अरण्य में स्थित वे भगवान् शंकर नित्य ही रौद्र हो जाते हैं। वही फिर सौम्य स्थान में व्यवस्थित होने पर सौम्य हो जाते हैं। इन सब स्थानों को जानकर किम्पुरुष आदि प्रमथों के सहित लोक-शंकर का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार से त्रिपुरशत्रु भगवान शंकर का यह संस्थान सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है ॥१८½-२२॥

कार्तिकेय —अब इस समय कार्तिकेय भगवान स्वामि कार्तिकेय के संस्थान का वर्णन किया जाता है। तरुण सूर्य सदृश रक्त-वस्त्र धारण किये हुए अग्नि के समान तेजस्वी कुछ बालाकृति धारण किये हुए सुन्दर मञ्जुल-मूर्ति, प्रिय-दर्शन प्रसन्न वदन श्रीमान ओज और तेज से युक्त विषधारक चित्र-विचित्र मुकुटों और मुक्ता मणियों से विभूषित छै मुख वाले अथवा एक मुख वाले रोचिष्मती-शक्ति अर्थात् अस्त्र को धारण किये हुए कार्तिकेय की प्रतिमा का संस्थान बताया गया है। नगर में बारह भुजाओं की मूर्ति बनानी चाहिये खेटक में छै भुजाओं की विहित है। कल्याण चाहने वालों को ग्राम में दो भुजाओं वाली प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिये। शक्ति, शर, खड्ग, मुसण्ढी और मुद्गर—ये पांचों आयुध इनके दक्षिण हाथों में दिखाने चाहिये। एक हाथ प्रसारित भी होना चाहिये। इस प्रकार से दूसरा छठा हाथ बताया गया है। धनुष, पताका,

घटा भेट और कुक्कुट (जो Improvised object-weapan बोध्य है)—ये पाच आयुध बायें हाथ मे बताये गये हैं। तो छठा हाथ वहा पर सवधनकारी हस्त (हस्त-मुद्रा) वाला होना है। इस प्रकार से आयुधा से सम्पन्न सग्राम-भूमि में स्थित बनाये जाते हैं। अन्य अवसर पर तो उन्हें क्रीडा और लीला से युक्त बनाना चाहिए। छाग (बकरा) कुक्कट (मुर्गा) स युक्त तथा मयूर से युक्त मनोरम भगवान स्कन्द का शाखा पर विजय करने की इच्छा करने वालो को सभी नगरो म बनाना चाहिए। खेटक मे तो षण्मुख ज्वलन-प्रभ तथा तीक्ष्ण आयुधो मे युक्त और पुष्प-मालाओ से सुशोभित बनाना चाहिए। ग्राम मे भी शान्ति और द्युति से युक्त उन्हें दो भुजा वाला बनाना चाहिए। दक्षिण हाथ मे तो शक्ति होती है और वाम हस्त म कुक्कुट। इस प्रकार से विचित्र प्रभा बडे महान तथा सुन्दर विनिर्मेय हैं। पर म खेटक में और ग्राम म इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य, भगवान सगवान् की कार्तिकेय की मूर्ति का निमाण करते है। अविरुद्ध कार्यो मे खेट ग्राम तथा उत्तम पुर म कार्तिकेय का यह सस्थान प्रयत्न-पूर्वक करना चाहिए ॥-३ ३५॥

बलराम—बलराम तो सुन्दर भुजाओ वाले तालकेतु धारण किय हुए महाद्युति बन म ला-कुण्डल धारण वाले चन्द्र-सदृश-कान्ति वाले हल और मुसल धारण करने वाले महान घमण्डी चतुर्भुज सौम्य-मुख नीलाम्बर-वस्त्र-धारी मकुट एव अलंकारो से तथा च न स विभूषित रवती-सहित बलदाऊ की मूर्ति का निमाण करना चाहिए ॥३६ ३८॥

विष्णु—विष्णु वदूर्य-मणि के सदृश पीताम्बर धारण किये हुए लक्ष्मी के साथ वाराह रूप मे, वामन रूप म अथवा भयानक नसिंह-रूप मे अथवा दाशरथि राम रूप म वीर्यवान जामदग्नि के रूप म दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाले अरिदम, शख चक्र गदा को हाथ में लिये हुये आजस्वी कान्तिमान नाना-रूप-धारी इस रूप में प्रतिमा में विभाव्य हैं। इस प्रकार स सुरो और असुरो से अभिनन्दित भगवान विष्णु की प्रतिमा का सनिवेश करना चाहिए॥ ३९-४२½॥

इन्द्र—देवाधीश इन्द्र वज्र धारण किये हुये सुन्दर हाथो वाले बलवान किरीट-धारी गद सहित श्रीमान श्वेताम्बर-धारी, श्रोणि सूत्र स मण्डित, दिव्याभरणो मे विभूषित पुरोहित-सहित, राज-लक्ष्मी से युक्त, इन्द्र का बनवाना चाहिए ॥४२½-४४½॥

यम —वैवस्वत यम-राज (धमराज) समझना चाहिये। तेज मे सूर्य के सदृश, सुवर्ण-विभूषित सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले पीताम्बर वस्त्र धारी और शुभ दन्त, विचित्र मुकुट वाले तथा अंगद-विभूषित बनाना चाहिये ॥४४½-४६½॥

ऋषि-गण —तेज मे सूर्य के सदृश बलवान एवं शुभ भरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहियें। दक्ष आदि आप प्रजापति भी इसी प्रकार परिकल्प्य हैं ॥४६½-४७॥

अग्नि —ज्वालाओं से युक्त, अग्नि की प्रतिमा बनानी चाहिये। उसकी वैसे तो कान्ति तो सौम्य ही होनी चाहिये ॥४८½॥

राक्षसादि —ये रुद्र-रूप धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, काल, नाना आभूषणों एवं आयुधों से विभूषित सब राक्षस बनाने चाहियें ॥४८½-४९॥

लक्ष्मी —पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली शुभ्रा, त्रिभङ्गी चारु-हासिनी श्वेत-वस्त्र-धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलंकारों से विभूषिता कटि-देश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता एवं पद्म लिये हुये दक्षिण हाथ से सुशोभिता एवं शुचि-स्मिता प्रसन्न वदना लक्ष्मी प्रथम यौवन में स्थिता बनानी चाहियें ॥५० ५२½॥

कौशिकी —शूल, परिघ, पट्टिश पादुका, ध्वजा आदि लक्ष्मों से लाञ्छित कौशिकी का निर्माण करना चाहिये। पुन उसके हाथों म खेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिये। वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है। उसके वस्त्र पीत एवं कौशेय होने चाहियें तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहियें ॥५२½-५४½॥

अष्ट दिग्पाल —आठों दिग्पाल—शुक्लाम्बर-धारी मुकुटों से सुशोभित एवं नाना रत्नों से मण्डित इन आठों दिग्पालों का निर्माण करना चाहिये॥५४½-५५½॥

अश्विनौ —ससार के कल्याण-कारी दोनों अश्विनियों को एक ही समान बनाना चाहिये। वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले निर्मेय हैं ॥५५½-५६½॥

पिशाच एवं भूत-गण —इनके दांत भयंकर तथा विचित्र होते हैं। इनके बाल मेचक-प्रभ प्रदर्श्य हैं। इनका वर्ण वैदूर्य सकाश होना चाहिये इनकी मूर्छें हरी परिकल्प्य हैं। रंग रोहित एवं आकृति भयावह, लोचन लाल रूप नाना विध एवं भयंकर भी प्रदर्श्य हैं। इनके सिरों पर सर्पों का प्रदर्शन भी अनिवार्य है। इनके वस्त्र भी अनेक वर्ण हो सकते हैं। इनके रूप भयंकर, कद छोटे भी ये

परूप, असत्य-वादी भयकर आदि रूपो मे निर्मेय हैं । साथ ही साथ भूतो की प्रतिमाओ मे वैशिष्टच यह है कि वे भी बडे भयकर उग्र रूप तथा भीम-विक्रम विकृतानन, सघ-रूप मे, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचो को लिये हुए तथा शाटिकाओ से शोभ्य ऐसे भूतो तथा उनके गणो को बनाना चाहिये ।।५६$\frac{1}{2}$ ६०।।

अब जा सुर और असुर नही बताये गये हैं उनको भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो राक्षसो और यक्षो गन्धर्वों और नागो का जो लिंग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें । प्राय पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधो से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहिये । उनसे भी कुछ छोटे और गुणो से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहिये । दैत्यो से छोटे मदोत्कट यक्ष लोगो का निर्माण करना चाहिये । उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वो से हीन पन्नगो और उनसे हीन नागो को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षो से हीन देह धारी बनाये गये हैं। चित्र विचित्र माला एव वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारो और चमडो को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक घोर रूप भूत सघ होते हैं । वे पिशाचो से भी अधिक मोट और तेज से कठोर होते हैं ।। ६१–६७ ।।

विशेष सकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, ५ रूप वेष इन सुरासुर गणो की प्रतिमाओ मे यह परिकल्पन आवश्यक है ।।६८$\frac{1}{2}$।।

टि० अंतिम श्लोक अधमात्र एव गलित है ।

पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हस प्रभति पाच पुरुषो और दण्डिनी-प्रभति पाचो स्त्रियो के देह व घाधिक का वणन करता हू । हस, शश, रुचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हस —उनमे हस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हस का आयाम ८८ अगुलो का बताया गया है। अन्य चार पुरुषो का आयाम क्रमश दो दो अगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अगुल के प्रमाण मे तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अगुल के आयाम से होता है। इस प्रकार उदर नाभि, और लिंग का अन्तर दश अगुलो के प्रमाण का होता है। ऊरू बीस अगुल और जघा तीन अगुल और जानु पाच अगुल और दो अगुल का शिर। रेखान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अगुल के प्रमाण से व क्षस्थल का विस्तार होता है। हस के हाथो का विस्तार बारह अगुल का होता है। दोनो प्रकाष्ठ दश अगुल के प्रमाण से विहित है। अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हैं ॥२-८॥

शश —हस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश रूप विहित है। तथैव उसके अग निर्मेय है। शास्त्रानुकूल तीन अगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और मेढ का अन्तर दश अगुल होता है। दोनो ऊरू बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष की बतायी गयी है और दोनो जानु बीस अगुल की और दोनो जघा बीस मात्रा की। दोनो गुल्फ तीन अगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ९० (नब्बे) अगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्ष स्थल बाईस अगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हस के समान शश के भी होते है। समयानुसार एव स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात दुबला बनाना चाहिये ऐसा विचक्षण विद्वानो ने बताया है ॥१४॥

रुचक —रुचक नामक पुरुष का मुखायाम साढे दश अगुल के प्रमाण मे बताया गया है। इसकी ग्रीवा साढे तीन अगुल के प्रमाण म बतायी गयी है। उसका वक्षस्थल ग्यारह अगल का और उसी प्रकार से उदर। नाभि और मेढ का अतर दश अगुल का बताया गया है। ऊरू बीस अगुल और जानु तीन अगुल और उनकी दोनो जघाओ का आयाम तीस अगुल के प्रमाण से बताया गया है। उसके दोनो गुल्फ और सिर तीन अगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ९२ अगुल का बताया गया है। इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अगुल का और इसकी दोनो भुजाये और प्रकोष्ठ दश अगुल के प्रमाण स बताये गये हैं। इसके दोनो हाथ ग्यारह अगुल के विस्तार वाले बताये गये है। इस प्रकार से पीन-स्कध पीन बाहु लीला-सहित गति वाला और चेष्टा वाला, बलवान और वृत्त-बाहु, सुदर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१½॥

भद्र —भद्र के मस्तक का आयाम तीन अगुल से होता है।(?) ग्यारह अंगल से और ग्रीवा साढे तीन अगुल से। इस का वक्षस्थल और जठर पाद सहित ग्यारह अगुल का होता है। इसकी नाभि और इसके मेढ का अतर साढे दश अगुल से समझना चाहिए। दोनो ऊरूवो का आयाम पाद-सहित बीस अँगुल का समझना चाहिए। दोनो जघाओ का भी आयाम उसी प्रकार से और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रकार से भद्र का आयाम ९४ अगुल का बताया गया है। वक्ष का आयाम २१ तथा दोनो बाहु ११ अगुल विहित हैं ॥ २१½—२५ ॥

टि० —लेखक Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का अश दूसरे अध्याय मे प्रक्षिप्त प्राप्त होता है अत इस परिमार्जित एव वैज्ञानिक सस्करण मे यथा स्थान उसको (प्रक्षिप्ताश द० स० सू० मूल अध्याय ७८ ८४½-८९) यहा पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० स० ५८ २६-३८) म लाया गया है। अतएव इसका अब यहा अनुवाद दिया जा रहा है।

उस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एव श्रोणि अर्थात नितम्ब पृथक पृथक परिकल्प्य है। उसके बाहु गोल एव सुसस्कृत निर्मेय है, अतएव वह वास्तव मे भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है। उसका मुख स्वभावत गोल ही बनाना चाहिय ॥२६॥

मालव्य —इस मालव्य नामक पाचवे पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अगुल-त्रय बताया गया है। इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख ग्रीवा वक्ष नाभि मेढ एव ऊपर आदि के अग भी शास्त्र मानानुरूप परिकल्प्य है। दोनो ऊरु इसकी

अठारह अगुल की तो, जघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अग जैसे जानु आदि वे चार अगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम ९६ अगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्ष -स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओ का होता है। बाहु एव प्रबाहु इन दोनो का १६ मात्राओ से विहित है। पाणिा दोनो द्वादश मात्रा के प्रमाण मे परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनास (पीन स्कन्ध) दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विशालवक्षा एव कृशोदर हो क्योकि इस पुरुष प्रमाण में महा-पुरुषो की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरू, कटि, जघा सभी गोल होने चाहिये। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७-३१½॥

हसादि पाचो पुरुषो की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखाकृति से है। हस का टेढा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नामक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एव आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एव लम्बाई मे भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडौल एव गोल हो। मालव्य की आकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप मे प्रकीर्तित की जा चुका है, वैसी यहा पर भी निर्दिष्ट है ॥३१½-३४॥

अब पञ्च-स्त्री लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हसादि के समान इनके नाम है वृत्ता पौरुषी बालकी (बलाका) दण्डा (?)

टि० —परन्तु यहा पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अत प्रभिशास भी यह गलितास है।

वृत्ता —नारी मासल-शरीरा, मासल-ग्रीवा मासलायत-शाखा तथा गोल मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषी —नारी पृथु-वक्त्रा कटी ह्रस्वा, ह्रस्व-ग्रीवा, पृथूदरी पुरुष के काण्ड-तुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भासित होती है ॥३६॥

बलाका -(बालकी) —नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिरस्का, .ु-शाखा कृशाङ्गी, अल्प ब्रह्म-सत्वा बतायी गयी है ॥३७॥

पुन इस की परिभाषा मे स्त्री लक्षण-विचक्षण विद्वानो ने यह भी . . है कि पुरुष-सपर्क से वह कुमारावस्था मे अब प्राप्त-यौवना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की बालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती है। ॥३८॥

इस प्रकार हंस आदि प्रधान पुरुषों का और स्त्रियों का यहा पर यथावत लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको यथावत जानता है वह राजाओं से मान प्राप्त करता है ॥३९॥

दोष-गुण-निरूपण

अब अन्य चित्रो-मूर्तियो अर्थात प्रतिमाओ आदि कर्मों मे वर्ज्य (त्याज्य)—रूपो का वर्णन करता हूं और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियो तथा शास्त्रज्ञो के अनुसार वर्णित किया गया है ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा —अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निर्मित प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष — अश्लिष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा अवनता अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रत्यंग-हीना, विकटा, मध्य मे ग्रन्थिनता — इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नही बनवाना चाहिए ॥ ३–४ ॥

अश्लिष्ट-सन्धि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम वक्रा से कलह नता से आयु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यो का नित्य धन-क्षय निर्दिष्ट होता है। उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद-रोग। इसमे सशय नही। काक-जघा देशान्तर गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी की नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा मे दारुण भय समझना चाहिये। अधोमुखी से शिर का रोग —इन दोषो से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५ ६½ ॥

इन दोषो के अतिरिक्त अन्य दोषो से युक्त प्रतिमा का अब वर्णन करता हूं। उद्बद्ध पिण्डिता ? गृह-स्वामी को दुःख देती है, कुक्षिगता ? दुर्भिक्ष और कुब्जा प्रतिमा मनुष्यो को रोग देती है। पार्श्व हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अशुभ-दर्शिनी होती है। जो प्रतिमा नाना काष्ठो से युक्त तथा लौह-पिण्डिता और सन्धियो से बंधी, हो वह अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है। लौह से अथवा कदाचित् त्रपु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है। पुष्टि की इच्छा रखने वाले को सन्धियां भी सुश्लिष्ट बनानी चाहिए।

शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र लौह से अथवा सोने और चांदी से बांधना चाहिए। इसलिए सब प्रयत्नो से शास्त्रज्ञ स्थपति को यथा-शास्त्र-प्रमाणानुसार सुविभक्ता प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए ॥६½ १७½॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-सधिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी इस प्रकार की रूपवती एव प्रमाणो और गुणो से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहा तक पुरुष-प्रतिमाओ का सम्बन्ध है वे भी पूर्णांग, अविकलाग निर्मेय हैं ॥१७½-१८॥

सपूर्ण गुणो को समझ कर और सपूर्ण दोषो को ध्यान मे रख कर जो स्थपति यथाप्रतिपादित गुणो से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की ओर लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं और उसकी बार बार प्रशंसा करते हैं ॥१९॥

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय मे अब इस के बाद नौ स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हू। सपात एव विपात से स्थानक प्रतिमाओं मे ये नौ वर्तिया उपकल्पित हो जाती हैं। प्रतिमायें वास्तव मे मुद्राओ के द्वारा ही समस्त उपदेश एव ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एव पाद-मुद्रा। इस अध्याय मे शरीर-मुद्राओ—नौ मुद्राओं का वर्णन किया जाता है।

सवप्रथम शरीर मुद्रा ऋज्वागत है, पुन अधर्ज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर अध्यर्धाक्ष—ये चारो शरीर-मुद्रायें उर्ध्वागत हैं। अब परावृत्त शरीर-मुद्राओ का कीर्तन करते हैं। उनमे भी य ही परावृत पदोत्तर ये चारो मुद्रायें बन जाती हैं ऋज्वागत परावृत्त, अधर्ज्वागत परावृत्त, अध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त। नवीं शरीर मुद्रा, यत परावलम्बी है अत इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्ति क-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यत चतुर्धा हैं, पुन परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई पुन, नवम पार्श्वागत के रूप में वर्णित किया गया हैं। अब इनके व्यन्तरो की सख्या इकतीस बनती है —

(i) ऋज्वागत तथा अधर्ज्वागत, इन दोनो के मध्य मे व्यन्तर चार बनते हैं,

(ii) अधर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनो के मध्य मे तीन बनते हैं,

(iii) अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनो के मध्य मे केवल दो व्यन्तर बनते हैं,

(iv) पार्श्वागत का व्यन्तर केवल एक बनता है,

(v) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनो के मध्य मे दस व्यन्तर बनते हैं,

(vi) इसी प्रकार अन्य शरीरावयवो को दृष्टि मे रखकर जैसे अर्धांग,

प्रर्धपुट, अधसाचीकृत-मुद्रा, स्वस्तिक-मुद्रा आदि इन व्यतरो से चित्र-शास्त्र-विशारदो ने व्यस्त-भाग से इनकी सख्या इक्तीस कही है। पुनश्च जिस प्रकार परावत्त, उसी प्रकार व्यतर भी यथाक्रम विभाज्य हैं। वास्तव मे भित्तिक म कोई वैचित्र्य नही परिकल्प्य है वह सब चित्राश्रित ही है ॥ ५-१३॥

दोनो पादो म सुप्रतिष्ठित वलस्त्य के अतर की स्थापना करना चाहिये। हिक्का मे दोनो पादो की निकट-भूमि पर सम्य प्रतिष्ठित होने पर ऋज्वागत प्रमाण जैसा पहले निरूपित किया गया है और बनाया गया है तदनन्तर अधज्वागत का यह प्रमाण समझना चाहिये। ब्रह्मसूत्र का मुख वा मध्यगामी बनाना चाहिये। नेत्र-रेखा-समत्व मे ही दृढ तल प्रमाण स मुख निर्मेय है। अपाग का अक्षिकूट का और कान का क्षय विहित होता है दूसरे स्थान पर कण का मान आध अगुल से माना गया है। दूसर अक्षि सूत्र पर बहु-लता का विधान है जो शास्त्रानुकूल निर्मेय है।

अक्षि का श्वेत भाग तीन यव क प्रमाण स और तारा एव प्रतिपादित प्रमाण मे निर्मेय है। उसका विस्तार और श्वत भाग और १रवोर भी पूर्वोक्त प्रमाण से बनाना चाहिए। ब्रह्मसूत्र से एक अगुल क प्रमाण से करवार होता है। उसका दूसरा अग ता एक अगुल क प्रमाणसे सगम होना है। कण और आख का अतर एक कना और आध अगुल के प्रमाण से बताया गया है। ब्रह्मसूत्र स एक अगुल के प्रमाण सेऔर कपोल से २ अगुल क प्रमाण स पुट हाना है। पहल और दूसरे मे मात्रा के आध प्रमाणमे पुट होता है और नाप जसा पहले बताया गया है वही कतव्य है। दो यव अधिक एक अगुल के प्रमाण से दूसरा अग होता है। पर भाग मे अधर जो छ यव क प्रमाणस बनाया जाता है। गण्ड भी यथोचित परिकल्प्य है। ब्रह्मसूत्र से फिर हनु पर-भाग म $1\frac{1}{2}$ अगुल के प्रमाण से होता है और फिर मुख-लेखा एक अंगुल के प्रमाण से विहित है। अन्य अङ्गो क भी प्रमाण समझ बूझकर बनाना चाहिए। इन अगोपागो क निर्माण मे सूत्र का विधान प्रमाण की दृष्टि से बहुत ही अनिवार्य है। कन्धाधर दूसरे भाग म सूत्र से पाच गाना वाला और पूवभाग मे उसे छ गोला क प्रमाण से समझना चाहिये। मध्य मे सूत्र से पीछे पार्श्व-लेखा का विधान है। चार कलाओ क प्रमाण से वक्ष-स्थल से मध्यम-सूत्र म कक्षा ६ भाग वाली होती है।

इसी प्रकार वक्ष-स्थल के अन्य अगो एव उपागो जैसे स्तन आदि उनका भी प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है। दूसरा हाथ कम (योग) क अनुसार बनाना चाहिय।

उसी प्रकार से पूर्व हस्त का भी यथोचित प्रवत्तन होता है। मापनादि-क्रिया भी वैसी ही दक्षिण हाथ में भी होती है। पर मध्य में बाहर वे सूत्र से छः अंगुल के प्रमाण से रेखा होती है। पूर्व मध्य में बाह्य-लेखा आठ मात्राओं के प्रमाण से होती है। नाभि-देश के पर भाग में यह बाह्य रेखा सात मात्राओं की होती है। कला-मात्र के प्रमाण में नाभि होती है। उसको पहला ६ अगुल के प्रमाण में होती है। पर भाग में कटि ७ मात्रा की और १० मात्रा की पूर्व भाग में। हृदय-रेखा पर-भाग में मुख-मान के मध्य से विकल्प्य एवं निर्णेय है।

पर नलक की लेखा एक अगुल के अन्तर में होती है। उसी प्रकार पर भाग की लेखा पष्ठांश है। नल के द्वारा पर-पाद की भूमि-लेखा बनाई जाती है। *तदनन्तर अगुष्ठ ½ अगुल से और उसके ऊपर पार्ष्णि उसके आधे प्रमाण* में। अगूठा का अग्र भाग ब्रह्म-सूत्र में पाच मात्राओं के प्रमाण से और तलवा ढेढ़ पाव अगुल के प्रमाण से बताया गया है।

अगूठा का अग्र भाग तीन कलाओं के प्रमाण से, सब अंगुलियां अगूठे से क्रमशः पर पर प्रमाणानुरूप विहित बनाई गयी हैं। इस प्रकार संनिवेश एवं अवसाद में ये सब नौ अगुल वाला प्रमाण होता है। जानु जैसे पहले बताई गई है वैसी होती है और सूत्र से चार अगुल में विहित है। इसका नलक भी उसी के समान और दोनों नलक तीन अगुल के अन्तर पर। इसी प्रकार भाग के प्रमाण भी शास्त्र से अनुमोदित भूमि-सूत्र से नीचे गया हुआ पहला अगूठा एक कला के प्रमाण में होता है, दूसरा अगूठा और अगुलियां ये सब यथोक्त प्रमाण से विहित बनाई गयी हैं।

इस प्रकार से कर मय प्रमाण से युक्ति से समझकर करना चाहिये। इस प्रकार अर्ध-ऋज्वागत-नामक इस श्रेष्ठ स्थान का वर्णन किया गया ॥१४-४४½॥

साचीकृत विशेष – अब साचीकृत स्थान का लक्षण कहता हूँ। स्थान-मान की सिद्धि के लिये पहले ब्रह्मसूत्र का विन्यास करना चाहिये। पर भाग में ललाट देश लेखा और कला होती है। पर भाग में भ्रू-लेखा का यथाशास्त्र प्रमाण विहित है उसी प्रकार अन्य प्रमाण होते हैं। ज्योति के परभाग में एक यव के प्रमाण से तारा दिखाई पड़ती है। तदनन्तर ज्योति यव मात्र और फिर उससे दो यवों के प्रमाण से तारा होती है। श्वेत और करवीर तदनन्तर प्राक्कथित प्रमाण से कनीनिका निर्णेय है। नासिका का मूल एक यव के अन्तर से समझना चाहिये। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वभाग में दो ऊर्ध्व गोल होते हैं। वहां पर अपाङ्ग दो गोलक के प्रमाण के अन्तर में समझना चाहिये तब एक भाग के

प्रमाण से कण का अभ्यन्तर और एक भाग के विस्तार से कर्ण होता है। दो यव से कम एक कला के प्रमाण से व्यावृत्ति से बढाई गई आख होती है। पूर्व के करवीर के साथ सफेदी तीन यव के प्रमाण से बताई गई है और दूसरी सफेदी आख, तारा का प्रस्तार पूर्व प्रमाण से प्रतिपादित की गयी है। कपाल-लेखा परत एक कला होती है। ब्रह्म-सूत्र से दूसरे से नासिका का अग्रभाग सात यवो के प्रमाण से बताया गया है। पूर्वभाग मे नासा-पुट एक यव अधिक एक अगुल के प्रमाण से विहित है। पूर्व भाग मे उसके निकट गोजी बनाई जाती है। पर भाग वाला उत्तरोष्ठ अर्ध मात्रा के प्रमाण से बताया गया है। अधरोष्ठ तीन यव के प्रमाण मे। दाप से उन दानो का चाप-चय होता है। पाली के मध्य मे सूत्र होता है और पाली के परे चिबुक होता है। हनु-पर्यन्त रेखा-सूत्र से आध अगुल पर होती है। हनु के दूसरे भाग का मध्यगामी सूत्र परिमडल कहलाता है। एक ही सूत्र के साथ दूसरी आख तक परिस्फुटा ठोढी के ऊपर मुख-पर्यन्ता लेखा बनानी चाहिये। इन लेखाओ से विचक्षण को पर भाग का निर्माण करना चाहिये। ग्रीवा आदि अन्य अगोपागो का भी प्रमाण शास्त्रानुरूप विहित है। पूर्वभाग मे सूत्र से आध अगुल के प्रमाण से हिक्का सुप्रतिष्ठित होती है। बाह्य-लेखा उस सूत्र से आठ अगुल के प्रमाण से परभाग मे स्थित होती है। हिक्का-सूत्र से लेकर हृदय भाग आठ होता है। उसी मात्रा मे अन्य अन्य प्रदेश परिकल्प्य है। हिक्का-सूत्र से पाच अगुल प्रमाण वाले परभाग में स्तन होते हैं। रेखा का अन्त सूचन करने वाला मध्य डेढ अगुल के प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके बाद बाहर का भाग एक मात्रा से निर्दिष्ट करना चाहिये और हिक्का सूत्र से लेकर स्तन-पर्यन्त यह ड अगुल के विस्तार में प्रकल्प्य है। कक्षा के नीचे दो कलाओ के प्रमाण से बाह्यलेखा बनायी जाती है। भीतर की बाह्य-लेखा स्तन से पाच अगुल के प्रमाण से बनाई जाती है और ब्रह्म-सूत्र से एक भाग से मध्यभाग मे अन्य अग बनाया गया है। —(?) टेढा विभाजित किया जाता है। पूर्वभाग में मध्य-प्रान्त सूत्र से दस अगुल वाला होता है। ब्रह्म-सूत्र से नाभि-प्रदेश टेढा होता है। चार यवो से अधिक चार अगुल के प्रमाण से वह बताया जाता है। पूर्वभाग में वह ग्यारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है। मध्य मे दूसरे के दोनो ऊरुवो का अभ्यन्तराश्रित सूत्र जाता है और अपर भाग से पहले की एक कला से वह जाता है। जानु का अधोभाग आधी कला और तीन यव मे बनता है। जघा के मध्य से लेखा का प्रमाण नलक-प्रसक्त होता है पुन चार से सूत्र स्पष्ट होता

है। इसी प्रकार से बाहरी लखाये बनायी जाती है। ब्रह्म-सूत्र से पाँच अगुल के परभाग में कटि-प्रदेश निवश होता है। इसी प्रकार अन्य गोप्य स्थान मेढ़ आदि एव ऊरू-मूल आदि सब विनिर्मेय हैं।

सूत्र के अपर भाग से उरू के मध्य में दो कलाओ के प्रमाण से रेखा बनायी जाती ह और सूत्र से पूव उरू का मूल, पूव से एक कला क प्रमाण से होता है। पव क जानु से दो कलाओं के प्रमाण से रेखा समझनी चाहिए। जानु ढढअगुल और एक यव के प्रमाण से और उसका पाश्व आध अगुल से बनाया जाता है। सूत्र के द्वारा पर-पाद की मध्य रखा विभाजित की जाती है। आदि-मध्य अत—इन तीनो रेखाओ को साची सूत्र म उदाहृत किया गया है। प्राक भाग से क्रमश से पाच अगुलो से प्राप्त होता ह। परभाग स्थित उरू और जँघा इन दोना का आधे अगुल के प्रमाण से क्षय बनाना चाहिए। पराक्षि मध्य गामी सूत्र लम्ब भमि प्रतिष्ठित होने पर पर-पाद तलात से पूवभाग से एक अगुल से बनाया जाता है। ब्रह्म-सूत्र से पूवपाद का तल आठ अगुल से होता है। दोनो तला क नीचे सूक्ष्मा लखा अठारह अँगुल के प्रमाण से बनायी जाती ह। अगुष्ठ-प्रात में प्रदेशिनी एक अँगुल से अधिक बनती है। पुन अगुष्ठ-मूलागम से अय अगुलिया विहित हैं। यहाँ से जो लेखा बनती है उसे भूमिलेखा कहा गया है। सूत्र से आधे अगुल से उसके ऊपर पर का पार्ष्णि विहित है। पूवपाद के अनुसार अगुष्ठ म अगुली का पात होता है। पुन उप प्रदेशिनी म न से पर प्रदेशिनी बनायी जाती है। तदनन्तर अय सब अगुलिया क्रमश प्रकल्पित बहा होती हैं। इस प्रकार से इस साचीकृत-नामक स्थान का यथाथ वणन किया गया ॥४४½ ८२॥

अध्यर्धाक्ष स्थान-मुद्रा-विशेष —अध्यर्धाक्षि-स्थान का अब वणन करता हूँ। ब्रह्मसूत्र को मुख म रखकर के यहा पर माना किया जाता है। कशान्त लेखा सूत्र से यव सहित एक मात्रा की होनी है।

टि० स० सू० के इस मूलाध्याय मे—स० सू० के ८१वें अध्याय (पच-पुरुष स्त्री-लक्षण) का अंश प्रक्षिप्त था अत उसे परमार्जित कर यथास्थान तत्रैव न्यासित किया गया।

भ्रू प्रदेश को दो यव मात्राओ से लिखे। कृशयवाङ्गुल वाली यहा भ्रू-लेखा विहित है। अक्षि, तारा आदि अध-प्रमाण से विहित हैं। कपोत रेखा पर भाग से यव-हीन एक अगुल स बनती है सूत्र-पूव पटान्त अर्धांगुल इष्ट है। यथ च

नासिकान्त एक अगुल सूत्र से परे करना चाहिये। पुन मत्र मे नासापुट आधा गोजी का सूत्र मध्यग विहित है। आधे यव की मात्रा स गोजी होती है और पर भाग का जो उत्तरोष्ठ हाता है वह ब्रह्म-सूत्र से लगा कर दो यव के प्रमाण मे समझना चाहिए। पर मे तो नासिका के नीचे रेखा आधे आग अगुल म होनी चाहिए। अधरोष्ठ के परभाग मे प्रमाण यव बताया गया है। हनु तक लेखा के मध्य मे सूत्र प्रतिष्ठित होना है। सूत्र से पहल करवीर का प्रमाण दो यव कम दो अगुल का होता है और वह आधे यव के प्रमाण म दिखायी पडता है। तदनन्तर सफेदी डेढ़ यव के प्रमाण से बतायी गयी है। ताना तीन यव के प्रमाण से समझनी चाहिए। शेष पूर्वोक्त-प्रमाण से। कान के परद के नीचे कर्ण मध्य-भागीय दो अगुल के प्रमाण से कर्ण का विस्तार विहित है। कान के परद म चार यव के प्रमाण म शिर-पृष्ठ-लेखा होती है। यह समझकर जैसा बताया गया है वैसा करना चाहिए। कर्ण-सूत्र से बाहर एक अगल के प्रमाण म ग्रीवा बनानी चाहिए। गल ग्रीवा हिक्का प्रागङ्गलान्तर विहित है। हिक्का-सूत्र से ऊपर अस-लेखा अर्थात स्कन्ध-लेखा उसी प्रकार मे एक अगुल के प्रमाण म होती है। ब्रह्मसूत्र से अगुल सम्मित पर भाग म अस अर्थात कधा होता है। --(?) कक्षा-सूत्र स पहिले स्तन का प्रमाण केवल एक भाग मात्र स, कक्षा मे तीन कलाओ तक पार्श्व-लेखा बनायी जाती है। आगे की भुजायें यथा-शास्त्र-प्रमाणानुरूप विहित है। प्रासाद-मध्य सत्र ग्यारह अगुल का होता है। सूत्र से तीन अगुल के प्रमाण स परभाग-मध्य विहित है। पर भाग म सूत्र म एक अगुल के प्रमाण से नाभि इष्ट होती है। नाभि की उदर-लेखा तो तीन अगुल समझनी चाहिए। दोनो नितम्ब (श्रोणी) का प्रदेश नाभि-प्रदेश से विहित है। ब्रह्मसूत्र स पूर्व भाग म तीन भाग वाली और पर म तीन अगुल वाली कटि अर्थात कमर विहित है। ब्रह्म-सूत्राश्रित ता म मढ स्थिति विहित है। पूर्वोक्त मध्य रखा सूत्र क प्रत्यगुल अन्तर में उस बनाना चाहिये और उसी की मूल रखा सूत्र म पहिले दो अगुल क अन्तर पर बनायी जाती है। पर जो दोनो उरुओ की मूल रेखा-सूत्र से दो कलाओ क अन्तर पर होती है। अब जहा तक जानुओ का प्रश्न है व भी इन्ही भाग प्रमाण में विहित है। जानु के मध्य में गयी हुई लखा बाह्य-लेखाश्रित होता है। आधे २ मात्रा की जानु होती है और उसकी अधोरेखा तो जो होती है वह सूत्र से पूर्व की ओर अगुल क प्रमाण से बनायी जाती है और सूत्र से पर परागुष्ठ-मूल पादक म एक अगुल

के प्रमाण से बनाया जाता है और मूल से अँगुष्ठ का अग्र-भाग साढे तीन अँगुला का होता है। सूत्र से परे जघा की सीमा चार अँगुल में होती है और पूर्व जघा की लम्बा तो दो अगुल में होती हैं। पूर्व जानू एक कला के प्रमाण से और शेष यथोक्त प्रमाण से। परपाद के तल में —? जो ऊँचा सुप्रतिष्ठित होता है —? वह मेढ कला के प्रमाण से बनता है। अथ च पाद की अँगुलियों का न्यास एव प्रमाण भी शास्त्रानुकूल अनुमेय एव निर्मेय हैं। जो परागुष्ठ मूल से उत्थित तव-सूत्र बनता है उसका सम्बन्ध अगुष्ठाग्रिम है। पूर्व पार्ष्णि-तल के ऊपर तीन अगुल में बनाना चाहिए और पार्ष्णि के परपाद का पूर्व पाद तिरस्कृत होता है। इस प्रकार अन्यर्धाक्ष नामक स्थान का यथा शास्त्र इस प्रकार से आलखन करना चाहिए ॥८३-११३॥

पार्श्वगित स्थानक मुद्रा विशेष —अब पार्श्वगत नामक पाचवें स्थान का वर्णन किया जाता है। *व्यावर्तित मुख के अन्त में ब्रह्मसूत्र का विधान किया* जाता है। सूत्र से स्प ललाट की बायी रेखा को दिखाना चाहिए। सूत्र से नासिका-वश दो अशो के मान से विहित है, पुन अपाग दो कलाओ से और सूत्र से कान भी दो कलाओ के अश से विनिर्मेय हैं। तदनन्तर इसका मध्यगत सूत्र इसके आधे से स्थापित करना चाहिए। एक अगुल मे चिबुक-सूत्र से हनुमध्य चार यव वाला होता है। डेढ अगुल से नतग्रीवा बनाना चाहिये। एक अगुल से तदनन्तर हिक्का और चार से ब्रह्मसूत्र से मस्तक तथा श्रवणपाली विहित है। ग्रीवा दो अगुल से ही मध्य सूत्र कहा जाता है। हिक्का के मध्य सूत्र से अड-मूल दो कला चार भाग में होता है। आठ मात्रा में पीठ और इसी प्रकार से हृदय-लेखा। स्तन-मडल फिर उसी से एक अगुल के प्रमाण से बनाया जाता है और पूर्व भाग में कक्षा सूत्र से तीन भाग से और तीन मात्रा से अपर भाग में कक्षा बनाई जाती है। दोनो अन्तो का मध्य अगुल के प्रमाण से विद्वान लोग बताते हैं। मध्य-सूत्र से पयन्त-मध्य दस अगुल से बनाया जाता है। मध्य-पृष्ठ चार से और नाभि-पृष्ठ पाच से, नाभि की अन्त रेखा नौ से और तीन कलाओ से कटि-पृष्ठ होता है तथा उदर की प्रान्त-लेखा दस अगुलो से समझनी चाहिए। आठ मात्राओ से स्फिक का मध्य कहा जाता है। वस्ति-शीर्ष नौ से स्फिक-अन्त और आठ अगुलो के प्रमाण से विहित है। आठ से मेढ का मूल होता है और ऊरु का मध्य सात से विहित है। दोनो ऊरुवो का पाश्चात्य मूल भाग पाच अगुलो के प्रमाण से बनाया जाता है। पीछे से ऊरु का मध्य

साढे चार अगुलो और वही आगे मे साढे पाच अगुलो का बताया गया है। कर-मध्यागुल मध्य—सूत्र मध्य में बनाया जाता है। जानु के भाग में मध्य-सूत्र होता है। भाग और लेखा जानु मे सूत्र के दोना तरफ होती है और जघा मध्य में बतायी गयी है। छ अगुल वाली जघा और नलक के मध्य में सूत्र कहा गया है। दोनो पार्श्वों पर दो अगुल के प्रमाण से नल बनाने चाहिएँ। मध्य—सूत्र से चार अगुल के प्रमाण से पार्ष्णि बनायी जाती है। पूर्वोक्त प्रमाण से अगुलिया और पादतल होता है। इस प्रकार से यह भित्तिक-मनक पार्श्वगत-नामक स्थान बनाया गया है ॥११२½—१२६½॥

परावृत्त स्थानक-मुद्रा-विशेष—अब इसके उपरात परावृत्त स्थानो का वर्णन करता है। वहा पर पहले ऋज्वागत परावृत्त स्थान का वर्णन किया जाता है। वहा पर दो अगुल के प्रमाण से दो कर्ण अलग २ बनाने चाहिए तथा पार्ष्णि और प्रपद इन दोनो का मध्य भाग सात अगुल होता है। साढे तीन अगुल से दो पार्ष्णि अलग २ बनाने चाहिए। कनिष्ठा अनामिका और मध्य म अगुलिया चार अगुल दिखानी चाहिए। अगुष्ठ (अगुठ अनामिका मध्या और कनिष्ठा बाह्यलेखा से सूत्रय हैं। यह परावृत्त स्थान होता है। शेष ऋज्वागत के समान आदेश किया गया। अर्ध्यर्जित आदि जो स्थान उनमे होते है जिसका जो परावृत्त स्थान हो उसके अनुसार उसका वह स्थान बनाना चाहिए। जो जो प्रमुख स्थानक मुनाय हैं उनकी दृश्यात्म्य सभी परावृत्त तथव कल्प्य हैं, ये बताये हुए स्थान जीवो मे द्विपदो म और निर्जीवो भी नगर यान आसन गृह आदि मे समझना चाहिए। समस्त प्रारूप ये नौ (६) ही स्थान हैं और जो बीम में विभक्त बताये गये है व उनके भेदो को भी समझना चाहिए ॥१२६½—१४६½॥

ऋज्वागतादि जो स्थान दृष्टि पथ के पथिक बनते है उनके स्थानो का जो मान होता है वह यहा भी बनाया जाता है। अठारह मे विस्तृत और उसके दुगुनी आयति स वह प्रमाण विहित है। और आयाम के अर्धदेश में उसका आग का विस्तार आठ म विहित है। —,?) उसके मध्यगामी सूत्र में नियमित की जाती है। विभिन्न अगो एव उपागो का भी यथा शास्त्र निर्माण है। स्तन का गर्भ गर्भसूत्र से विस्तार में छै अंगुल वाला होता हैं और छ अगुलो से दोनो स्तनों का तिरश्चा विनिगम होता है। गर्भ से तिरछे पृष्ठ पर्श दोनो स्फिज भी दश अगुल के प्रमाण से बनाये जाते है। पुन पृष्ठ वश स्फिचानुसार विहित है।

जो नवागुल विहित है और स्फिक् से सात अगुल परे होता है। कक्षा का मूल, आयाम और गभ से दस अगुल वाला होता है। आग उसका निगम एक अगुल से और पीछे से सात अगुल से। गभसूत्र से तदनन्तर तिरछा पादाश अठारह अँगुल वाला होता है। गभ से प्रदेश पाच अगुलो से बनाया जाता है। जठर-गभ दोनो पार्श्वों पर और सामने भी अगुल से पेट का प्रदेश, पीठ पश्चात् सात अगुलो से साढे ग्यारह अगुलो मे ऊर्वो का मूल बताया गया है। पाच अगुल क प्रमाण स इसका पहल का निगम और पीछे का निगम सात अगुल से। उरु-मूल के पीछे से तो दोनो स्फिज तीन अगुल क प्रमाण से निगत होते है। आगे तदनन्तर मध्य गभ सूत्र मे छै अगुल का समझना चाहिए। टढ सूत्र से जानु पाच साढे नौ अगुलो स समझना चाहिये। और आयाम सूत्र से जानु पीठ से आग चार अगुल का होना चाहिये। गभ से टढा इसका नल छै अगुल वाला और पृष्ठ भाग स वह नौ अगुल वाला होता है। सूत्रान्त से अगुल-पयन्त साढ छै अगुलो से यह नलक निर्मेय है। इसका विस्तार भी नथव शास्त्रानुसार परिकल्प्य है। दैर्घ्य से यहा पर चौदह अगुलो का पाद बताया गया। गभ स आग छै अगुल वाला और पीछे से छै अगुल वाला होना है। जानुओ एव अन्य प्रदेशो का अन्तर अगुल-मात्र है। इस प्रकार से ऋज्वागत, अधऋज्वागत मध्य सूत्र से बताया गया है। इस प्रकार इन सब के शष परावृत्ता एव अन्तरो का भी प्रबन्धन तथैव विहित है ॥१३८½–१५५॥

ऋज्वागत अर्धऋज्वागत, साचीकृत, अध्यर्धाक्ष एव पार्श्वगत नामक स्थानो का वणन किया गया। उनके चार परावृत और बीस अन्तर भी बताये गय ॥१५६॥

अथ वैष्णवादि-स्थान-लक्षण

अब इसके बाद स्थानक अर्थात् चेष्टा-स्थानों का वर्णन किया जाता है जिनको समझ कर एवं उन्हीं के अनुसार विचार कर चित्र विशारद मोह को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१॥

षड् स्थान —वैष्णव, समपाद तथा वैशाख और मण्डल प्रत्यालीढ और आलीढ इन स्थानों के लक्षण करना चाहिए ॥२॥

वैष्णव स्थान —जिसमें तीसरे भाग को पूर्ण पाद गलित है। दोनों पादों का अन्तर ढाई ताल के प्रमाण में होता है। उन दोनों का एक समन्वित और दूसरा पक्ष स्थित त्रिकोण होता है और कुछ जंघा खिंची हुई दिखाई पड़ती है इस प्रकार का यह वैष्णव स्थान बनता है और यहां पर भगवान विष्णु ही देवता परिकल्पित किये गये हैं ॥३–५½॥

समपाद स्थान समपाद-नामक स्थान में दोनों पाद समान होते हैं और वे ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते हैं। साथ ही साथ स्वभाव से वे सुन्दर होते हैं और यहां पर अधिदेवता ब्रह्मा होते हैं ॥५½–६½॥

वैशाख स्थान —दोनों पादों का अन्तर साढे तीन ताल का होता है। पहला पाद अग्र तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अंकित करना चाहिए। इस प्रकार से यह वैशाख नाम वाला स्थान होता है और इस स्थान की अधिदेवता भगवान विशाख स्वामिकार्तिक होते हैं ॥७½–८½॥

मण्डल स्थान —इन्द्र-सम्बन्धी मण्डल नामक स्थान होता है और दोनों पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। तिरछी और पक्ष-स्थिति से कटि जानु के समान होता है ॥८½–९½॥

आलीढ —पांच ताल के अन्तर पर स्थित दक्षिण पाद को फैलाकर आलीढ नामक स्थान बनाना चाहिए और वहां के देवता भगवान रुद्र होते हैं ॥९½–१०½॥

प्रत्यालीढ —दक्षिण पाद कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ के परिवर्तन से प्रत्यालीढ कहा जाता है ॥१०½–११½॥

टि० इन प्रमुख स्थानक पाद-मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य स्थानक मुद्राओं

का भी कीर्तन किया जाता है। इन में तीन पाद मुद्रायें विशेष कीर्त्य हैं। वहां पर पहली मे दक्षिण तो बराबर, दूसरे मे अर्थात् वाम मे त्रिकोण तथा तीसरी मुद्रा मे कटि समुन्नत वाम -इस प्रकार यह पहली मुद्रा अवहित्थक नाम से दूसरी ?, तीसरी चक्रान्त के नाम से पुकारी गई है। समुन्नत कटि वाला वाम पाद जब प्रदृश्य होता है तो उसकी सना अवहित्थ कही गई है। एक पाद बराबर स्थित तथा दूसरा अग्र-तल से युक्त कहलाता है तो उसकी सज्ञा .. ? तीसरी चक्रा त कही जाती है। ये तीन स्थान स्त्रियो के और कही कही पुरुषो के भी होते हैं ॥११½-१३॥

कटि के पार्श्व-भाग मे दो हाथ, मुख वक्षस्थल, ग्रीवा तथा शिर इन समस्त स्थानो मे क्रियानुसार काय करना चाहिए। क्रियायें अनन्त है। उनका सपूर्ण रूप से वर्णन करना असम्भव है। इस लिए हम लोग यहा पर उनका दिङ्मात्र वर्णन करते हैं ॥१४-१५॥

प्रिय के निकट प्रसन्न स्त्री का अथवा प्रिया के निकट पुरुष की जैसी स्थिति अथवा सस्थान हो वह ब्रह्म-सूत्र ऋज्वागत स्थान मे होता है ।१६ १७½।

इन मुद्राओ में अवयव विभाग भी होता है उसका क्रमश अब वर्णन करता हू ॥१७॥

नासिका और अधर-पुटो मे और अन्य नाना अगो मे जैसे सक्कणी नाभि आदि तथा पीछे ऊरू के मध्य से और उसी के समान पीछे के गुल्फ के अन्त मे त्रिभग-नामक स्थान मे सूत्र की गति बतायी गयी है। इस त्रिभग-नामक स्थान मे एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। छत्तीस अगुल भागीय स्थान के मध्य मे ऐसा निर्माण विहित है ॥१८ २०॥

त्रिविध-गतियां—द्रुत, मध्य, विलम्बित—प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है।

टि०—इन गमनादि त्रिविध गतियो का अनुवाद असभव है, यत पूरा का पूरा ग्रन्थ गलित एव भ्रष्ट है।

इस प्रकार से इन सब गमन-स्थानो मे सस्थान समझना चाहिए। अन्य सूत्रो की यथोचित स्थिति को विद्वान् लोग ठीक तरह से समझ कर करें ॥२१-३४॥

टि० इन मुद्राओ मे दृष्टि एव हस्तादि के क्रियाओ का विवरन अनिवाय है।

दष्टियो हस्तो आदि के विनिवेश से इन चार स्थानो का छदानुकीतन होता है ॥३५॥

सूत्र विन्यास क्रिया—और भी बहुत सी जो मनुष्यो की क्रियायें होती हैं वे अकित करने योग्य होती हैं। उनका शिष्या के ज्ञान के लिए तीन सूत्रा का पातन करना चाहिए। ब्रह्म सूत्र-गत सूत्र म और जा पाश्व मे सम्बन्धित वहा पर उन स्थाना मे ऊपर तीन सूत्र है व पूणरूप से बोधव्य है। उनमे मध्य मे जा बनाया जाता है उस ब्रह्मसूत्र कहत हैं। भित्ति के फिर अन्य भाग की अपेक्षा मे पाश्व म स्थित जो सूत्र होता है वह मध्यगामी ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दाना पार्श्वों पर से मय है उसको भी सज्ञा पाश्व सूत्र ही है। प्रदनावयवो की पण निष्पत्ति के लिय विधान-पूवक जा जा अभीप्सित काय सम्पादित करना है उसमे इन तीना ऊध्व-सूत्रा का विन्यास अनिवाय है। इन के मान तियङ्-मानानसार ही व नय हैं ॥३६-४२॥

वष्णव प्रभति स्थाना का वणन ठीक तरह म किया गया। गमनादि तीनो गतिया भी बनायी गया है। सूत्र की पातन विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी है और इसके ज्ञान म स्थपति शिल्पिया म श्रेष्ठ गिना जाता है ॥४३॥

अथ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण

टि० शरीर-मुद्राओं एवं स्थानक मुद्राओं के उपरान्त अब हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

अब चौंसठ हस्तों के योगायोग-विभाग से लक्षण और विनियोग का वर्णन किया जाता है ॥१॥

१	पताक	९	कपित्थ	१७	चतुर
२	त्रिपताक	१०	खटकामुख	१८	भ्रमर
३	कर्तरीमुख	११	सूच्यास्य	१९	हंसास्य
४	अर्धचन्द्र	१२	पद्मकोष	२०	हंसपक्ष
५	अराल	१३	अहिशीर्ष	२१	सदंश
६	शुकतुण्ड	१४	मृगशीर्ष	२२	मुकुल
७	मुष्टि	१५	लांगूल	२३	ऊर्णनाभ
८	शिखर	१६	कालपक्ष	२४	ताम्रचूड

यह चौबीस हस्तों की संख्या होती है और उनका लक्षण और कर्म बताया जाता है ॥२-५॥

पताक-हस्त — जिसकी प्रसारित अग्र-भाग सहित अंगुलियां होती हैं और जिसका अंगुष्ठ कुंचित होता है उसको पताक कहा गया है।

अब इसके विशेषों के सम्बन्ध में यह सूच्य है कि वक्ष स्थल से लगाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से झुका हुआ और कुछ भकुटियों को चढ़ाकर और कुछ आंखें फाड़कर प्रहार का निर्देश करे। पुनः प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन कराता हुआ एवं अविकृत मुखाकृति में कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताका के समान स्फारित नेत्रों से एवं भ्रुकुटियों को आकुञ्चित भौंवों के द्वारा यह हस्त साक्षात् गर्व-प्रतिमा (मैं साक्षात् गर्व हूं) चित्र-शास्त्र विशारदों के द्वारा बताया गया है। जो वक्ष्यमाण अर्थ है उनमें उसको संयुत करे। दूसरा हाथ इसमें विहित है। इस हाथ को ऊपर उठाकर अंगुलियों को चलाता हुआ वर्षाधारा-निकर का दर्शन करावे तथा पुष्प-

त्रिपताक-हस्त मुद्रा - पताक हस्त मे जब अनामिका अगुली टढी होती है, तब उस हस्त को त्रिपताक समभना चाहिए और उसके कम का अब वणन किया जाता है। इस की विशेषता है कि उसमे अगुनिया—मध्या, कनिष्ठा आदि चल रही हो। कुछ नत मस्तक से यह करना चाहिए और इस को ऊपर उठा कर विनत मस्तक से उसी प्रकार अवतरण क्रिया करनी चाहिए। पास से प्रसपण करता हुआ इसी प्रकार से विसजन करना चाहिए। पुन प्राङमुख होकर अथवा भ्रकुटी तान कर पाश्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पाश्वस्थ से धारण तथा अधोनति से प्रवेश करते हुए दोनो अगुनियो के उत्क्षेपण से तथा इसके तानन से और अविकारी मुख से उत्तावन करना चाहिए और पाश्व मे नत मस्तको मे प्रणाम करना चाहिए। फैलाये ऊपर अगुलि उठा कर निदर्शन करना चाहिये ? हुये मुख के आगे विविध वचनो का निदशन एव अनामिका आदि अगुलियो से सूचन पुरस्सर मागलिक पदार्थों का समालम्भ किया जाता है। पराङमुख तथा शिर-प्रदश म सरण करत हुय इस हाथ से शिर-सनिवेश दिखाना चाहिए। और यह सब अविकारी मुख से दिखाना चाहिए। दोनो तरफ से केश के निकटवर्ती दोनो हाथो स साफा और मुकुट आदि प्राप्त करता है। यह दिखाना चाहिए। और कान और नाक का बद करना दिखाना चाहिए। निकट-स्थित पाणि बनावटी भौवो से तथा ऊपर स्थित दो अगुली वाले उस हाथ से दोनो अगुलियो स अधामुख दिखाना चाहिए। इसी हाथ के चलायमान दोनो अगुलियो से पटपदो को दिखाना चाहिए और कभी २ दोनो हाथो से छोटे २ पक्षियो का दिखाना चाहिए और पवन प्रभतिया को भी और अन्य पदार्थों को भी दिखाना चाहिए। चलती हुई अगुलियो वाले अधोनत दोनो हाथो से अथवा अधोमुख से आगे सपण करता हुआ स्रोत दिखाना चाहिए। ऊपर स्थित सून-सदृशाकार दूसरे हाथ से गगा का स्रोत दिखाना चाहिए। सम्मुख प्रसपण करते हुए चलायमान एक हाथ से वह विकृतानन विचक्षण को सप का अभिनय करना चाहिए। कनीनिका-देश-सर्पी अधोमुख दूसरी दोना अगुलियो से उस विनतानन व्यक्ति का अश्रुप्रमाजन दिखाना चाहिए। नीचे २ सपण करती हुई भाल-दश तक जाती हुई भ्रकुटी को धीरे धीरे लचाकर तिलक की रचना करनी चाहिए और फिर उस अनामिका से रोचना-क्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया भाल-प्रदेश पर विशष रूप से विहित है। और उसी से अलका का प्रदशन करना चाहिये तथा उत्तानित त्रिपताक-हस्त से हास करना चाहिए। मुख के आगे टेढी २ दो अगुलियो क चालन से और वक्षस्थल के अग्र-भाग से दो अगुलियों

के चलान से मयूर, सारिका वाक और कोकिल को दिखाना चाहिए । इसी प्रकार मानो पूरे तीनो लोको का अभिनय प्रदश्य है ॥४० ६२॥

कतरीमुख हस्त – त्रिपताक हस्त मे जब मध्यम अगुली की पृष्ठावलोकना तर्जनी होती है तब यह कतरीमुख नाम से पुकारा जाता है । भुके हुए नम हुए पैर से सञ्चरण प्रदश्य है तथा अय भगिया भी अधोमुख स इसी भगी मे रगण करना चाहिए । मस्तक-वर्ती उन्नत भ्रू-प्रदश सयुत उप से श्रग दिखाना चाहिए । ऊची उठी हुई तथा तनी हुई भो दिखाय । पुन कुछ नीचे भुके हुए उससे श्रघ पतन अथवा जाते हुए मरण दिखाना चाहिए । शङ्कित विष्पण-रहित हस्त से, पुन कुछ कुञ्चितभ्रू स शिर का भुकात हुए चलते हुए अय भगिया प्रदश्य एव अभिनेय है ॥६३–६६½॥

अर्धचन्द्र-हस्त मुद्रा – जिसकी अगुनिया अगूठ क साथ धनुप के समान खिची हुई होती है उस हाथ को अर्धच द्र कहा गया है । अब उसके कम का वणन किया जाता है । भौं को ऊचा कर के एक हाथ से शशि-लेखा का प्रदशन करना चाहिए मध्यमा से उपयम्न उसा प्रकार निर्धारित करना चाहिए । मोट तथा छोटे पौध शख, कलश ककण इन सब को सयत हस्त से दिखाना चाहिए । रशना, कुडल आदि के तथा तलपत्र के तद्देशवर्ती उससे कमर और जाघो का भी अभिनय दिखाना चाहिए । इसी से अनुगला दष्टि अय अभिनयो म भी प्रदश्य है ॥६६½-७३॥

अराल-हस्त-मुद्रा – पहली अगुली धनुप के समान विनत बनानी चाहिए और अगूठा कुचित होना चाहिए और शेप अगुलिया अराल नामक हस्त मे भिन्न एव ऊर्ध्ववलित अर्थात् उठी हुई बतायी गयी हैं । आगे से फैलाये हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त से सत्त्व (बल) शौडीय (शौर्य) गाभीय क्षम और कान्ति दिखाना चाहिए । और भी जो दिव्य पदाथ हैं उनको भी अविकतानन भौहो को उठाये हुए उस नतक को इसी भाति से दिखाना चाहिए एक हाथ से आशीर्वाद दिखाना चाहिए । स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और अपने सर्वांग का निवसान जो किया जाता है तथा उत्कषण भी यह जो सब किया जाता है वह सब भी उठी हुई भ्रू प्रदर्शन पुरस्सर करना चाहिए और प्रदक्षिण गत हाथो से उसे दिखाना चाहिए । विवाह और सम्प्रयोग तथा बहुत से कौतुक अगुलो के आग समायोग से बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल से प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा परिमण्डल–सस्थान महाजन

और इस पृथ्वी पर जो निर्मित द्रव्य हो उन सबको दिखाना चाहिए। दान वारण (निषेध) आह्वान अर्थात आवाहन (बुलाना), वचन अर्थात उपदेशादि इस असंयुत एवं चलित हस्त से दिखाना चाहिए। तथा इसी हाथ से पसीन को हटाना और सूंघना चाहिए। नग र कोविदों के द्वारा उस प्रदेश में प्रवत्त हस्त से स्त्रियों के विषय में भी वही हाथ प्रायः प्रयोग में लाया जाता है। इन सब कर्मों को यः अराल नामक हस्त अपाक के समान करता है। मुख-स्थित इस हस्त से अभिनय उचित नहीं य न पूर्वोक्त प्रदेश्य है ॥७४-८४॥

शुक तुण्ड हस्त-मुद्रा —अराल-नामक हस्त की जब अनामिका अंगुली टेढ़ी होती है तब उस हाथ को शुक-तुण्ड समझना चाहिए और उसके कर्म का वर्णन अब किया जाता है। 'तुम इस तिरछे हस्त से अपन को मत दिखाना'—यह निर्देश है। पुन पुः प्रसारित एवं सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण पुन विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त-मुद्रा में दिखाना चाहिये। इस हस्त से फिर दृष्टि एवं अनुगत प्रदेश्य है ॥८५॥—८९॥

मुष्टि हस्त मुद्रा —जिस हाथ के तल मध्य में अंगुलियां अग्र संस्थित होती है और अंगूठा उनके ऊपर होता है उसको मुष्टि नामक हस्त कहते हैं। यह भ्रुकुटि चढ़ाये हुए मुखों सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम कराना चाहिए और नियम में तो पार्श्व में स्थित होता है। से बनाया जाता है ॥९०-९१॥

शिखर-हस्त मुद्रा —छड़ी तथा तलवार के ग्रहण में स्तन पीड़न में, गात्र-मर्दन में असंयुत मुद्रा में इस हस्त को करना चाहिए, पुन इसी हाथ की मुष्टि के ऊपर जब अंगूठा प्रयुक्त होता है तब इस पार्श्व को प्रयोग करने वाले को शिखर नाम से समझना चाहिए। कुश रश्मि अर्थात डोरी तथा धनुष के ग्रहण में इसे वाम बनाना चाहिए। जहां तक शाणि अर्थात् नितम्ब-प्रदेश के ग्रहण का विषय है वह दोनों हस्तों को व्यस्त तक करना चाहिये शक्ति, तोमर आदि आयुधों के मोचन में तो दक्षिण हाथ का प्रयोग किया जाता है, पाद और ओठ के रंजन मे चलितांगुष्ठक होता है। वालों के समुत्क्षेपण में उसी प्रदेश में स्थित होता है तथा इसकी दृष्टि और दोनों भ्रुवों को अनुगत बनाना चाहिये ॥ ९२—९६ ॥

कपित्थ हस्त मुद्रा —इसी शिखर-नामक हस्त की जब प्रदेशिनी नामक अंगुली दो अंगूठा से निपीडित होती है तब उस हस्त को कपित्थ नाम से पुकारा

जाता है । इसी हाथ से विद्वान को चाप, तोमर, चक्र, असि (तलवार), शक्ति वज्र, गदा आदि इन सब शस्त्रो के चलाने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन आयुधो के विक्षेपावसर दृष्टियो एव भ्रू चालनो का भी सयोग अपेक्षित है ॥९७ ९९॥

खटकामुख हस्त-मुद्रा —कनिष्ठा अगुली के सहित इस कपित्थ की अनामिका अगुली उच्छिन्न एव वक्रा होती है तब यह हाथ खटकामुख समझना चाहिए। इसी नत हस्त से होत्र हव्य और अन्न बनाया जाता है। दोनो हाथों से छत्र-ग्रहण तथा छत्राकर्षण द्रष्टव्य है। एक स आदश (शाशा) पकडना और पखा चलाना दूसरे से अवक्षेपण करना, उत्क्षेपण करना फिर खण्डन करना घूमते हुए इससे परिवेषण करना तथा बडे दण्ड को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, कुसु केश-कलाप आदि के पकडन मे तथा माला आदि के सग्रह म दृष्टि एव भौं सहित इस हस्त को विचक्षण के द्वारा प्रयोग करना चाहिए। ॥१००-१०४॥

सूचीमुख हस्त-मुद्रा —सूचीमुख खटक सज्ञक हस्त मे जब तर्जनी नामक अगुली फैला दी जाती है तब उस हस्त को सूचीमुख के नाम से प्रयोग-शास्त्रियों को समझना चाहिए। इसकी प्रदशिनी नामक अगुली का ही प्राय व्यापार होता। यह हस्त सम्मुख से कम्पित उद्वलित लोलन्द एव वाहित विभ्रभा से प्रदर्श्य है। भ्रू-का अभिनय, चालन एव जम्भन भी अपेक्ष्य है। धूप दीप पुष्प माल्य, पल्लव आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभति भी प्रदश्य हैं। इस म टढा गमन भी अभिनेय है। बालसर्पों को भी यहा दिखाना आवश्यक है। पुन छोट मयूरो मडल और नयनो (जो ऊपर स चचल हो रह हो) उनकी तारकाग्रो को भी दिखाना चाहिये। तथा नासिका की दण्ड यष्टियो को दिखाना चाहिए, मुखासन्न आगे विनत इससे दाढी दिखाना चाहिए और टढे मडल वाली उससे सब लोक दिखाना चाहिए। लब और वडे दिवस म इस उन्नत करना चाहिए। अपराह्न-वेला में भी का भ्रुकुटी और मुख के निकट उसका कुचिता विजृम्भित करना चाहिए। नृत्य के तत्व का जानन वाला क द्वारा वाक्यार्थ के निरूपण मे इस प्रकार की उस अगुली का प्रयोग करना चाहिए जिसस हाथ फैला हुआ हो, अगुलिया कप रही हो विशेष कर गुस्से मे पुन हाथ को उठा कर फला कर यह अभिनय प्रदश्य है। कुतल अगद, गण्ड एव कुण्डलो के रूपण मे तद्देश-वर्तिनी उस अगुली को बार बार चलाना चाहिए। पुन उस ललाट म सवन एव उन्वृत्त रूपा भुके इस प्रकार अभिनय म लाओ—इस

प्रकार अभिनय मे लाये, इस प्रकार की हस्त-मुद्रा से फिर उसको फैलाकर, उठा कर दिखाना चाहिये । और उग्र कोप-प्रदर्शन इस अगुली से 'कौन है'--इस मुद्रा से तिरछे निकलती हुई तथा कपती हुई प्रदश्य है । पुन कान खजुआने मे, शब्द सुनने मे भी यही मुद्रा विहित है । हाथ की दो अँगुलियो को सम्मुख सयुक्त करके वियोग मे विघटित और लडाई मे स्वस्तिका के आकार वाली करना चाहिए । परस्पर निपीडन मे भी इनको ऊपर उठाते हुए एव ऊर्ध्वाग्र चलिता प्रदश्य है। पुन आख भी तथा दोनो भौवें को भी हस्तानुगत अभिनेय हैं ॥१०५-१२२½॥

पद्मकोशक-हस्त-मुद्रा --जिसकी अगुलिया अगूठे के सहित विरली और कुचित होती हैं और ऊपर उठी हुई और अग्रभाग सयत यदि वे होती हैं तो ऐसा हस्त पद्म-सज्ञक कहलाता है । और उस हाथ के द्वारा श्रीफल अथवा कपित्थ का ग्रहण-रूपण करना चाहिए । बीजपूरक-प्रभृति पधान फलो का तथा अन्य फलो का भी उन उन फलो के समान रूप बनाकर उस हाथ के समान रूप बनाकर उस हाथ के द्वारा ऊर्ध्वगति से रूपण करना चाहिए । मुह फैलाकर स्त्री का कुच (स्तन) निरूपण करना चाहिए और दृष्टि और भौं को इस हाथ के अनुगत बनानी चाहिए ।।११२½-१२५।।

सर्पशिर-हस्त-मुद्रा --जिस हाथ की सब अगुलिया अगूठे के सहित सहत अर्थात् सटी होती हैं और जिसके तलवे निम्न होते हैं, उस हाथ को सर्प-शिर् नाम से पुकारा जाता है । सींचने और पानी देने म उसे उत्तानित करना चाहिए । सर्प की गति म तो फिर उसे अधोमुख विचलित करना चाहिए और इस सर्पशिर-नामक हस्त से आस्फोटन क्रिया कही गया है । फिर भौं चढाकर इस प्रकार से टेढा शिर करक सम्मुख अधोमुख से हाथो का कुम्भ-स्फालन दिखाना चाहिए और भ्रू-सहित दृष्टि को हस्त की अनुयायिनी बनाना चाहिए ॥१२६ १३०½॥

मृगशीर्षक-हस्त-मुद्रा --अधोमुख तीनो अगुलियो की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अगुष्ठ जब ऊपर होते हैं तब यह मृगशीर्ष के नाम से पुकारा जाता है । 'यहा पर इस समय यह है--आज यहा पर है'--इस प्रकार इसका प्रयोग करना चाहिए । शस्त्र के आलम्बन मे, अक्ष पातन मे, और स्वेदापनयन मे टेढी मुद्रा से उस म तत्प्रदेश-स्थित अधोमुख करना चाहिए । पुन उसकी क्रोध-मुद्रा प्रदश्य है । इसकी अनुयायिनी दृष्टि तथा दोनो भौवो को भी वैसा ही करना चाहिए ॥१३०½-१३३॥

काग्रूल हस्त मुद्रा —त्रेताग्नि-सस्थिता मध्यमा एव तर्जनी के सहित अगुष्ठ प्रदश्य है। कागूल मे अनामिका नामक अगुली टेढी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उस को उत्तानित करके करकधू-प्रभृति प्रकतियो को दिखाना चाहिए और तरुण जो फल हो तथा और कोई जो कुछ छोटी बडी वस्तु हो, अगुली नचाकर स्त्रियो के रोष-वचनो का तथा मुक्ता, मरकत आदि रत्नो के प्रदशन का इसी हाथ से प्रदशन विहित है। इसी हस्तानुगत भौंहो का दष्टि पुरस्सर अभिनय पूववत् अनिवाय है ॥१३४-१३७½॥

अलपद्म हस्त मुद्रा —जिसकी अगुलिया हथेली पर आवर्तिनी होती हैं और पास मे पाश्वगिता विकीण होती हैं उस हाथ को अलपद्म प्रकीर्तित किया गया है। प्रतिशोधन मे यह हाथ सम्मुख टेढा रखना चाहिए। 'तुम किस की हो"—नही है—इस वाक्य के शून्य उत्तर मे बुद्धिमान के द्वारा अपने उपन्यसन तथा स्त्रियो के सन्देश मे यह मुद्रा अभिनेय है। पुन दष्टि एव दोनो भोहे उसी प्रकार इस हस्त मुद्रा की अनुगत प्रदश्य है ॥१३७½-१४०½॥

चतुर-हस्त मुद्रा —जहा पर तीन अगुलिया फैली हुई हो और कनिष्ठा ऊची उठी हो और उन चारो के मध्य मे अगुष्ठ बैठा हो उसको चतुर बताया गया है। विनय म और नम मे यह हाथ अभिनय-शास्त्री के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। नैपुण्य म शिर को उन्नत कर पुन सत्व अर्थात बल मे ऊची भौं कर के पुन नियम मे इस चतुर हस्त को उत्तान बनाना चाहिये, किन्तु कुटिला भ्रू को विनय के प्रति ऐसा आचरण नही करना चाहिए। अधोमुख उस हाथ से *बाल दिखाना चाहिए और इस बाल-प्रदशन मे भकुटी स टेढा शिर बनाना* चाहिए। पुन उत्तानित हस्त से बलपूवक आतुर नर को दिखाना चाहिए। तिरछ फैलाकर फिर उत्तानित कर बाहर अविकृतास्य मुद्रा स सत्य म तथा अनुमिति म भी यह प्रदश्य है। इसी प्रकार स युक्त पथ्य म शम मे और यम मे इसी प्रकार से हाथ को प्रयुक्त करना चाहिए। दो से अथवा एक स थोडा मडलावस्थित उससे विचार करता हुआ अभिनय करना चाहिए, और इसी प्रकार लज्जित तथा निलज्जित मुद्रा करना चाहिए और वहा पर भौहो को नीचे करके अविकृत (अविकाय) मुख दिखाना चाहिए। फिर मण्डलावस्थित वक्षस्थल पुरत स्थित अधोमुख से वहा भी अविक्त मुख तथा अभ्युन्नत दोनो भौंहें प्रदश्य हैं और शिर बायें से नत प्रदश्य है। दोनो आखो से मृग-कण-प्रदशन करना चाहिए। विचक्षणो के द्वारा तद्देशवर्ति दोनो हाथो से भ्रू-सहित क्षेपण प्रदश्य है। पुन उत्तान-युत-हस्त उसस तदनन्तर पत्राकार-प्रदशन करना चाहिए। इस चतुर

सतक हस्त मे भी को थोडा सा लचा कर लीला, रति, स्मृति बुद्धि, मूर्छा, सगत, प्रणय, शोच माधुर्य, भाव, अक्षम, पुष्टि, सचिव, शील, चातुर्य, मादव सुग, प्रश्न-वार्ता, वेष और युक्ति तथा दाक्षिण्य यौवन मे, विभव और अविभव तथा कुछ सुग्न शाद्वल, मदु, गुण, अगुण घर स्त्री, नाना विध आश्रय वाले वण—ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय क योग्य हैं। कही पर प्रमान कही पर मृदुता तथा जिस २ अर्थ की जसे जैसे प्रतीति हो बुद्धिमानों को उसी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से शोघ मे अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। अर्थात इस मुद्रा मे सब करना चाहिए। मण्डलस्थ हस्त से पीत और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ नतभ्रू शिर से और परिमण्डलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए और स्वाभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोतादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१५६ ॥

भ्रमर हस्त-मुद्रा --मध्यमा और अगुष्ठ सदेशाकृति मे और प्रदेशिनी टेढी और ऊपर दोनो अगुलिया जहा पर प्रकीण हो उसको भ्रमर नामक कर कहा गया है। उस हाथ से कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण—अभिनय करना चाहिए। कण-देश पर उस हाथ को रख कर बताना चाहिए। और उनके अभिनय मे दृष्टि को और भौं को हस्त का अनुगामी करना चाहिए ॥ १६०-१६२ ॥

हसवक्त्र हस्त मुद्रा — हसवक्त्र नामक इस हाथ की दोनो अगुलिया अर्थात तर्जनी तथा मध्यमा और अगूठा भी त्रेताग्नि मे स्थित सा प्रदशन विहित है। शेष दोनो अगुलिया फैली हुई अभिनेय है। कुछ स्पद करते हुए अगूठे वाले इस हाथ से दोनो भौंहो को उठा कर निस्सार, अल्प और सूक्ष्म तथा मृदुल और लघु दिखाना चाहिए और इसके अभिनय मे दृष्टि और भौं को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए ॥ १६३-१६५३ ॥

हसपक्ष-हस्त-मुद्रा —पहली तीनो अगुलिया फैली हुई और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई तथा अगूठा जिसमे कुंचित हो उस हाथ को हसपक्ष बताया गया है। उस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढ़ा कर निवापाञ्जलि दिखाना चाहिए। उसी के द्वारा गण्ड के रूप का गण्ड-वतन और भोजन मे तथा प्रतिग्रह अर्थात् दक्षिणा आदि की स्वीकृति मे इसे उत्तान करना चाहिए और उसी प्रकार ब्राह्मणों के आचमन आदि पूत कार्यों मे इसे करना चाहिए। दोनो के अतरावकाश क नीचे इसे स्वस्तिक-योगी बनना चाहिए। कुछ शिर को नीचे करके पाश्व मे

ही दोनों हाथो से स्तम्भ-दर्शन अभिनय है। बाएं हाथ को फैलाकर एक से रोमाच करना चाहिए। स्त्रियो अर्थात् प्रियाओ के सवाहन मे और अनुलपन म तथा स्पर्श मे साथ ही साथ विषाद में और विभ्रम म भी स्तना तस्य-रस-स्वाद-पुरस्सर तद्देशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण मे अवस्थल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भौहो का भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५½-१७२½॥

सन्दंश-हस्त-मुद्रा —जब अराल हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ का सन्दश-सज्ञक इस हस्त मे भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सन्दश बताया गया है। यह अग्र, मुख तथा पार्श्व इन तीनो भेदो मे तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-ग्रथन मे प्रयुक्त करनी चाहिए तथा तृणो तथा पत्रो क ग्रहण मे और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह म प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण मे तो अग्रदशक को स्थिर करना चाहिए। आकर्षण म तथा खींचने मे भी और वन्त से पुष्प को उखाडन मे और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण म भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष मे तथा धिक्कार के वाक्य मे बाहर के भाग से प्रसर्पण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श्य हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा बाण के लक्ष्य निरूपण ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय म तो हृदय के सम्मुख सयुत करना चाहिए। निन्दा अथवा कोमल और दोषयुक्त वचनो मे विवर्तिताग्र वाम हस्त कुछ शिथिल सा प्रदर्श्य है। प्रवाल की रचना मे, वर्तिका के ग्रहण मे, नेत्र रजन मे और आलेख्य म तथा आलक्तक-पीडन म भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२½-१८२½॥

मुकुल हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की हस-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अगुलिया समागताग्रसहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहा पर मुकुलो तथा कमला आदि म इसे सघन बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उच्चालित यह हस्त विट-चुम्बक होता है ॥१८२½-१८४½॥

ऊर्णनाभ-हस्त-मुद्रा —पद्मकोष-नामक हस्त की अगुलिया जब कुचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्णनाभ समझना चाहिए और चोरी और केशग्रह

में इसे प्रयुक्त किया जाता है। चोरी और केश-गह मे इस हाथ को अधोमख करना चाहिए। शिर को खुजलाने मे मस्तक के प्रदेश मे बार बार चलता हुआ इसे तिर्यक बनाना चाहिए और कुष्ठ की व्याधि के निरूपण म इसे टेढा बनाना चाहिए। सिह और व्याघ्र।हि के अभिनय मे इसे अधोमुख करना चाहिए तथा इसको भ्रुकुटि और मुख से सयुक्त बनाना चाहिए। यहा पर भी दृष्टि और भ्रू का कम पहल के समान ही बनाया जाता है ॥१८४½-१८८½॥

ताम्रचूड हस्त मुद्रा —मध्यमा और अगुष्ठ मन्दश के समान जहा पर हो और प्रदेशिनी वक्रा हो तो दोनो अगुलिया तलस्थ कतव्य हैं। मग, शृगाल आदि के डराने मे तथा बाल-सधारण मे इस हाथ को भत्सना मे भृकुटी-युक्त बनाना चाहिए। सिह एव व्याघ्र आदि के योग मे विच्युत हो कर शब्द करता है। दृष्टि एव भ्रू इस हस्त की सदैव अनुग विहित हैं। दसरो के द्वारा इसकी दस ो सज्ञा भी दी गयी है ।१८८½-१६१½॥

अभी तक असयुत चौबीस हस्तो का वणन किया गया। अब तरह सयुत हस्तो के नाम और लक्षण का वर्णन किया जाता है —अजलि कपोत, ककट, स्वस्तिक, खटक, वधमान, उत्सग, निषध, डाल पुष्पपुट मकर गजदन्त, अवहित्थ और दसरा वधमान —ये सयुत सज्ञक तेरह हाथ वणित किए गय हैं ॥१६१½-१६५½॥

अञ्जलि-हस्त-मुद्रा —दो पताक हस्तो के सश्लष से अञ्जलि-नामक हस्त स्मत किया गया है। वहा पर विद्वान को कुछ विनत शिर करना चाहिए। निकटवर्ती मुख से गुरु को नमस्कार करना चाहिए और वक्षस्थल पर स्थित मित्रो का और स्त्रियो का यथच्छ विहित है ॥१६५½-१६७½॥

कपोत हस्त-मुद्रा —दोनो हाथो से परस्पर पाश्व सग्रह से कपोत नाम का हस्त होता है इसके कम का वणन अब किया जाएगा। शिरोनमन से एव वक्ष स्थल पर हाथ रख कर उसी से गुरु-सम्भाषण करना चाहिए तथा उसी से शीत और भय प्रदशन करना चाहिए। विनयाभ्युपगम मे भी यही विहित है। अगुलि से सघट्यमाण मुक्त पाणि स यह नही करना चाहिए ऐसा ही करना चाहिए —आदि अभिनेय हैं ॥१६७½-२००॥

ककट-हस्त-मुद्रा —जिस हस्त की अगुलिया अन्योन्याभ्यन्तर निःसृत होती है, उस को ककट समझना चाहिए और उसके कम का अब वर्णन किया जाता है। शिर को उठाकर तथा भौहो को नचाकर कामातुरो का

जम्भण (जमुहाई लेना) तथा अग मदन इसी से दिखाना चाहिए ॥२०१–२०२॥

स्वस्तिक-हस्त-मुद्रा —मणिबधन मे वि यस्त अराल दोनो हस्तो को स्त्रियो के लिये प्रयोजित होते हैं तो उसे स्वस्तिक बताया गया है। चारो तरफ ऊपर प्रदश्य एव विस्तीण रूप मे वनो, मेघो, गगन आदि प्राकतिक दृश्य अभिनेय है ॥२०३½–२०४॥

खटकावर्धमान हस्त मुद्रा —खटक मे खटक यस्त खटकावधमानक-सञ्ज्ञक यह हस्त बताया जाता है। श्रृगार आदि रसो के अथ मे इसे प्रयोग करना चाहिए तथा उसी प्रकार इस का परावृत-प्रभद भी विहित है ॥२०४½-२०५॥

उत्सग-हस्त मुद्रा –दोनो अराल हस्त विपयस्त और ऊंचे उठे हुए बधमानक जब हो तो स्पश म एव ग्रहण म इसकी सज्ञा उत्सङ्ग बताई गयी है। उत्सग नाम वाले ये दोनो हाथ होते हैं। अब उनका कम बताया जाता है। उन दोनो का विशेष प्रहरण अथवा हरण मे विनियोग करना चाहिए और इन दोनों हाथो को स्त्रियो का ईर्षा के योग्य बनाना चाहिए। दायें अथवा बायें हाथ को कूर्पर के मध्य म यास करना चाहिए ॥२०६ ? ८।

निषध हस्त मुद्रा –यह लक्षण गलित एव लुप्त है।

दोल-हस्त–मुद्रा जहा दोनो पताक हस्त के अभिनय मे कध प्रशिथिल मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड रहे हो ऐसे करण मे दाल की सज्ञा हुई ॥२०९॥

पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा—जो सर्पशिर नामक हस्त बताया गया है उसका अगुल ससक्त हो तथा जो दूसरा हाथ पार्श्व-सश्लिष्ट हस्त होता तो यह हस्त होता है। इसके काम विभिन्न प्रदशन जलपान आदि है ॥२१०-२११॥

मकर-हस्त-मुद्रा — जब दोनो पताक-हस्त के अँगूठा उठाकर अधोमुख ऊपर ऊपर वि यसित होते हैं तब उस हाथ को मकर अथवा मकरध्वज कहते हैं ॥२१२॥

गजदन्त-हस्त-मुद्रा —कूपर मे दोनो हाथ जब सर्पशीर्षक सचित होते है तब उस हाथ को गजदन्त के नाम से समझना चाहिए ॥२१३॥

अवहित्थ-हस्त-मुद्रा —शुक की चोच के समान दोनो हाथो को बनाकर वक्ष स्थल पर रख करके फिर धीरे धीरे मुखाविद्धाभिनय से उसको अवहित्थ कहा जाता है। इस हाथ से उत्कण्ठा-प्रभृति का अभिनय करना चाहिए ॥२१४-२१५½॥

वधमान-हस्त-मुद्रा —दोनो हाथ हस पक्ष की मुद्रा म जब हो और व

एक दूसरे के पराङ्मुख भी हो तो इस को वधमान के नाम से पुकारा जाता है ॥२१५॥

टि० (१) इस मूलाध्याय में भाग के दो श्लोक (२१६-२१७) प्रक्षिप्त प्रतीत होते है भ्रत अनुवादानपेक्ष्य ।

टि० (२) चतुर्विंशति (२४) सयुत हस्त-मुद्राभ्रो एव त्रयोदश (१३) भ्रसयुत हस्त-मुद्राभ्रो क वर्णन क उपरान्त भ्रब एकोनत्रिंशद (२९) नत्य-हस्त मुद्राभ्रों का वर्णन किया जाता है। इन नत्य-हस्तों मे इस मूल मे केवल भ्रटठाईस नत्य-हस्त प्राप्त हो रहे हैं उनसे दहुतो के लक्षण भ्रष्ट हैं गलित भी है तथा भ्रव्यवस्थित भी हैं, भ्रत मुनि की दिशा से भ्रर्थात् नाटय-शास्त्र प्रणता भरत-मुनि क नाटय-शास्त्र की दिशा से यत्र-तत्र भ्रावश्यक व्यवस्था का भी प्रयत्न किया गया है।

ये ही सयुत भ्रसयत दोना हस्त-मुद्रायें नत्य हस्त-मुद्राभ्रा मे भी प्रयोग मे लाई जा सकती हैं। चेष्टा, भ्रग—जैसे हस्त से उसी प्रकार सात्विक विकार जा भृकुटि, भ्रोष्ठ, नासिका, पार्श्व, ऊरु पाद भ्रादि गतियो एव भ्राक्षेप-विक्षेपो मे जिस प्रकार की भ्रनुकृति भ्रभिव्यक्त हो सकती है उसी प्रतीति से इनका भ्रनुकरण इन मुद्राभ्रो मे विहित है ॥२१८-२१९॥

नत्त हस्त —भ्रब इन नत्त-हस्तो का वर्णन किया जाता है। पहले इनकी निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है –

(१) चतुरश्र	(१०) उत्तानवञ्चित	(२०) ऊर्ध्व-मडली
(२) उद्वृत्त	(१२) पल्लव-हस्त[1]	(२२) पार्श्व-मडली
(३) स्वस्तिक	(१३) केश-बन्ध	(२२) उरो मडली
(४) विप्रकीर्णक	(१४) लता-कर	(२३) उर पार्श्वाधमडल
(५) पद्म-कोश	(१५) करि हस्त	(२४) मुष्टिक-स्वस्तिक
(६) भ्रराल-खटकामुख	(१६) पक्ष वचित	(२५) नलिनी पद्मकोषक
(७) भ्राविद्ध-वक्त्र	(१७) पक्ष-प्रद्योतक	(२६) हस्तावलपल्लव-कोल्बण
(८) सूची-मुख	(१८) गरुड-पक्षक	(२७) ललित
(९) रेचित	(१९) दड-पक्ष	(२८) वलित
(१०) भ्रध-रेचित ।		

टि० —सकेत २९ नत-हस्ता का है परन्त प्रदर्शित क्रम से केवल २८ ही

चतुरश्र - जब वक्षस्थल के सामने अष्टांगुल-प्रदेश में स्थित सम्मुख-खटकामुख पुन समान कूपराश--ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो तो नृत्य हस्त-विशारदो के द्वारा इस नृत्य-हस्त की सज्ञा चतुरश्र दी गई है ॥२२८-२२६½॥

टि० :—यहा पर इस मूल मे उद्वृत्त एव स्वस्तिक इन दोनो नृत्य-हस्त-मुद्राओ का लक्षण गलित है।

विप्रकीर्ण —हस-पक्ष की आख्या वाले दोनो हस्त जब व्यावर्त्ति एव परिवर्तन से स्वस्तिक आकृति मे लाए जाते हैं पुन मणि-बन्धन से च्यावित अर्थात हटा दिए जाते हैं तो इस मुद्रा को नृत्याभिनय-कोविदो ने विप्रकीर्ण की सज्ञा दी है ॥२२६½—२३०॥

पद्मकोश —वे ही दोनो हस पक्ष-हस्त जैसे विप्रकीर्ण उसी प्रकार इसमे व्यावर्तन-क्रिया का आश्रय लेकर अल-पल्लवता की आकृति मे परिवर्तित कर इन दोनो हस्तो को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है तो इस की सज्ञा पद्मकोश बनती है ॥२३१—२३२½॥

अराल खटकामुख —विवर्तन एव परावर्तन इन दोनो प्रक्रियाओ म दक्षिण को अराल और वाम को खटकामुख मे स्थित कर जब यह मुद्रा बनती है तो इसको अराल-खटकामुख-नृत्य-हस्त कहते हैं ॥२३२½ २३ ॥

आविद्धवक्त्रक —भुजाए कध और कूपरो के साथ जब बाए और दाए ये दोनों हाथ *कुटिलावर्तन क्रिया मे अधोमुख-तल, आविद्ध उद्धत एव विनत इन* क्रियाओ से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहा इस मुद्रा की आविद्ध वक्त्रक-नृत्य-हस्त-मुद्रा सज्ञा होती है। इसकी विशेषता यह भी है कि इस मुद्रा म गदा-वेष्टन-*योग भी विहित है* ॥२३४—२३५॥

सूची-मुख —जब सर्प शिर की मुद्रा मे तलस्थ अगुष्ठक वाले दोनो हाथ तिरछे स्थित हो कर और आगे प्रसारित कर जो आकृति प्रतीत होती है उसमे इस नृत्य-हस्त की सज्ञा सूची-मुख से कीर्तित की गई है ॥२३६॥

रेचित :—मणिबन्धन से विच्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुन बाद मे व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हसपक्ष का मुद्रा म लाकर कमल-वर्तिता करनी चाहिए, पुन इनको द्रुत भ्रम की गति म लाकर दोनो बगलो मे धीरे धीरे रेचित करना चाहिए, तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को विशारदो ने रेचित कहा है ॥२३७-२३६½॥

अर्द्धरेचित —पूर्व-व्यावर्तित-क्रिया का आश्रय लेकर बाहु-वर्तना से चतुरश्रक और परिवृत्ति इन दोनो मुद्राओ से जब दक्षिण हाथ चतुरश्र की प्रा

मे आ जाता है। पुन बायां हाथ रेचित मुद्रा मे आ जाता है। तो विद्वानो ने इसे अद्धरेचित की सज्ञा दी है ॥२३९½-२४१½॥

उत्तान-वञ्चित – दोनो हाथो को चतुरश्र के समान व्यावृत्ति एव परिवृत्ति से वर्तित कर पुन कूर्पर एव अस मे भञ्चित कर जब इस प्रक्रिया मे ये दोनो हाथ त्रिपताकाकृति प्रतीत होने लगते हैं और कुछ ये दोनो हाथ अश्रस्थिति (तिकोनी) मे आश्रित होते हैं तो इनकी सज्ञा उत्तानव ञ्चितनृत्य-हस्त हो जाती है ।२४१½-२४२½॥

पल्लव-हस्त इस मुद्रा मे या तो बाहु-वर्तन अथवा शीर्ष एव बाहु दोनो के वर्तन से इस क्रिया मे अभ्यर्णागत दोनो हाथ जब पताका के समान निर्दिष्ट हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की पल्लव-सज्ञा कही गयी है ॥२४२½-२४४½॥

केश-बन्ध —मस्तक पर दोनो हाथ जब उद्वेष्टित-वर्तना-गति एव सरणि मे सिर के दोनो बगलो पर जब पल्लव-सस्थानाकृति मे दोनो हाथ दिखाई पड़ते है। तो इस नृत्य-हस्त की सज्ञा केश-बन्ध दी गई है ॥२४४½-२४५½॥

लता हस्त — .. .. ? जब ये दोनो हाथ अभिमुख निविष्ट हो जाते हैं तथा दोनो बगलो पर पल्लव-हस्त की आकृति मे दिखाई पडते है तो इस नृत्य-हस्त की मुद्रा की सज्ञा लता-हस्त दी गई है ॥२४५½-२४६½॥

करि-हस्त —इस करि-हस्त की विशेषता यह है कि व्यवर्तन से दक्षिण हस्त लता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोलित होकर त्रिपताक-हस्त की आकृति मे परिणत हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की सज्ञा करि-हस्त दी गई है ॥२४६½-२४७½॥

पक्ष-वञ्चितक —उद्वेष्टित वर्तना से जब दोनो हाथ त्रिपताक के समान अभिमुख घटित हो जाते हैं पुन करि-हस्त सन्निविष्ट भी प्रतीत होने लगते हैं तो इस नृत्य-हस्त की सज्ञा पक्ष-वञ्चितक दी गई है ॥२४७½–२४८½॥

पक्ष-प्रद्योतक —जब ये दोनो हाथ त्रिपताक हाथो के समान कटिशीर्ष-सन्निविष्टाग्र दिखाई पडते है पुन विवर्तन एव परावर्तन से यह पक्ष-प्रद्योतक मुद्रा बन जाती है ॥२४८½–२४९½॥

गरुड पक्षक -अधोमुख-तलाविद्ध मे दोनो हस्त प्रदर्श्य हैं, पुन इन दोनो हस्त मुद्राओ को त्रिपताकाकार-वैशिष्ट्य विहित है ॥२४९॥

दण्ड-पक्षक —व्यावर्ति एव परावर्तन मुद्रा से दोनो हाथों को फैलाकर दिखाना चाहिए ॥२५०॥

ऊर्ध्व-मण्डलिन —इस नत्य-मुद्रा मे हाथो का ऊर्ध्वदेश विवर्तन मे दर्शनीय होता है ॥२४१½॥

पार्श्वमण्डलिन —इसकी विशेषता यथानाम पार्श्व-विन्यास विहित है। २५१॥

ऊरोमण्डलिन —दोनो हाथो मे से एक तो उद्वेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित प्रस्य है, पुन वक्ष स्थल-स्थान से उन्ह भ्रमित प्रदश्य है ॥२५२॥

टि० यथा-निर्दिष्ट शेष नत्य-हस्त मुद्राओ — उरपार्श्वार्धमण्डलिन मुष्टिक स्वस्तिक, नलिनी पद्मकोषक हस्तावलपल्लव-कोल्बण, ललित तथा वलित—इन छओ के लक्षण गलित हैं।

इति शुभम्

अनुवाद खण्ड

समाप्त

शब्दानुक्रमणी

अ

छ

ज

म

त

श

टि० शेषांश पृ० ४ पर देखें।